मज़दूर माँगपत्रक मई दिवस प्रदर्शन विशेषांक – 1

मासिक समाचारपत्र • पूर्णांक 6 • वर्ष 1 • अंक 6 • अप्रैल 2011 • पाँच रुपये • सोलह पृष्ठ

मज़दूर बिगुल

125वें मई दिवस पर एक नया संकल्प!

एक नयी पहल! एक नयी शुरुआत! एक नयी मुहिम!

मज़दूर माँगपत्रक आन्दोलन को एक तूफ़ानी जनान्दोलन बनाओ!

एकजुट होकर आगे बढ़ो! 1 मई 2011 से एक नयी शुरुआत करो!

सत्ताधारियों से अपने हक़ माँगने के लिए एकजुट होकर करनी होगी फिर से राजनीतिक संघर्ष की शुरुआत!

सम्पादकीय अग्रलेख

गुज़रे कई दशकों का समय पूरी दुनिया के मेहनतकशों के संघर्षों के पीछे हटने का समय रहा है। वक़्ती तौर पर इतिहास की गति रुकी हुई-सी रही है, और कभी-कभी तो पीछे मुड़ती हुई-सी भी लगती रही है। उलटाव-बिखराव के इस अन्धकारमय दौर में पूँजीवादी और साम्राज्यवादी ज़ोरो-जुल्म अपनी सारी हदों को पार कर चुके हैं। मज़दूरों की हड्डियाँ निचोड़ने के लिए और कच्चे माल की लूट के लिए देशी पूँजीपतियों ने विदेशी कम्पनियों को भी खुला न्यौता दे दिया है। काग़ज़ पर जो श्रम क़ानून मौजूद थे, वे पहले भी मज़दूरों को अतिसीमित हक़ और इंसाफ़ देते थे, पर अब तो उनका कोई मतलब ही नहीं रह गया है। पूँजीवादी जनतन्त्र एकदम नंगा हो चुका है। सरकारें और अदालतें पूँजीपतियों की खुली तरफ़दारी कर रही हैं। देश की जिस तरक़्क़ी का चौतरफ़ा डंका बज रहा है, उसका सारा फल सिर्फ़ ऊपर की दस-पन्द्रह फीसदी आबादी तक ही पहुँचता है। मेहनतकशों की ज़िन्दगी के अँधेरे रसातल तक उसका एक क़तरा भी रिसकर नहीं पहुँचता। उन्हें बस ज़िन्दा रहकर हाड़ गलाने भर के लिए मेहनत-मजूरी मिल जाती है।

बर्दाश्त की हदें जब पार होने लगती हैं तो यहाँ-वहाँ, मज़दूर बीच-बीच में आन्दोलन की राह पर उतरते रहते हैं। ये बिखरी हुई लड़ाइयाँ पूँजी की संगठित ताक़त, क़ानून और सरकारी मशीनरी की ताक़त के बूते या तो दबा दी जाती हैं, या लम्बे इंतज़ार से थके-पस्त मज़दूरों के आगे कभी रियायतों के कुछ टुकड़े फेंक दिये जाते हैं। कुछ कारखानों या किसी एक सेक्टर के मज़दूर जब हड़ताल पर होते हैं तो उनसे बेख़बर या अलग रहते हुए आसपास के कारख़ानों तक के उनके भाई-चाकरी बजाते रहते हैं। और जब उनकी बारी आती है तो दूसरे कारख़ानों के मज़दूर उनके साथ नहीं आते। पूँजीवाद के तौर-तरीकों में पिछली आधी सदी के दौरान काफ़ी बदलाव आये हैं और मज़दूरों द्वारा पूँजी के हमलों के विरुद्ध बचाव और हमलों के तौर-तरीकों में भी निश्चय ही बदलाव लाने होंगे। **पर एक बात जितनी सौ-डेढ़ सौ साल पहले सही थी, उतनी ही आज भी सही है।** वह यह कि

मज़दूर वर्ग जबतक कारख़ानों और पेशों (सेक्टरों) की चौहद्दियों में बँट-बिखर कर लड़ता रहेगा तब तक, ज़्यादा से ज़्यादा कुछ आर्थिक रियायतों और कुछ सहूलियतों के टुकड़े ही हासिल कर पायेगा। यदि पूँजी की ताक़तों को पीछे धकेलकर कुछ राजनीतिक अधिकार हासिल करने हैं और उनके अमल की सीमित गारण्टी भी हासिल करनी है, तो मज़दूर वर्ग को इस या उस कुछ मालिकों के बजाय समूचे मालिक वर्ग के विरुद्ध (जिसकी नुमाइंदगी पूँजीवादी राज्यसत्ता करती है) संघर्ष करना होगा। राजनीतिक माँगों पर संघर्ष का यही महत्व है।

एक बात और है जो पिछले सौ-डेढ़ सौ सालों में नहीं बदली है। जो ट्रेड यूनियनवादी और अर्थवादी हैं वे कुल मिलाकर आर्थिक संघर्षों की चौहद्दी में ही मज़दूर चेतना और मज़दूर संघर्षों को क़ैद रखना चाहते हैं। पूँजी और श्रम के सतत् संघर्षरत शिविरों के बीच सुलह-सफ़ाई उनका काम होता है। वे सौदेबाज़ी करके मज़दूरों को रियायतें दिलवाते रहते हैं और अतिरिक्त श्रम शक्ति निचोड़ने वाली पूँजीवादी मशीनरी की 'ऑयलिंग-ग्रीजिंग-ओवरहॉलिंग' करते रहते हैं। वे चोला-पगड़ी तो मज़दूरों के प्रतिनिधि का पहने रहते हैं, लेकिन सेवा पूँजीपति वर्ग की करते हैं। लड़ाइयों को कमज़ोर बनाने और हार के गड्ढे में ढकेलने में भितरघातियों-घुसपैठियों की भूमिका हरदम ही अहम होती है। अर्थवादी-ट्रेडयूनियनवादी पहले हमेशा इसी भूमिका में थे और आज भी हैं। जो संसदमार्गी वामपंथी (संशोधनवादी) पार्टियाँ हैं, उनकी भी यही भूमिका है। एक ओर तो उनकी ट्रेड यूनियन दुकानें महज दुअन्नी-चवन्नी की रियायतों-सुविधाओं की रस्मी लड़ाइयाँ लड़ती रहती हैं और सौदेबाज़ी में मशगूल रहती हैं, दूसरी ओर समूचे मज़दूर वर्ग के हितों-अधिकारों को लेकर लड़ी जाने वाली राजनीतिक लड़ाइयों को ये पार्टियाँ या तो संसदीय बहसबाज़ी के अड्डे की नौटंकियों तक सीमित कर देती हैं या फिर (ये पार्टियाँ और इनकी यूनियनें) बीच-बीच में कुछ रस्मी प्रदर्शनों और एक दिन के प्रतीकात्मक बन्द या हड़तालों के द्वारा यह दिखलाने की कोशिश करती हैं कि मज़दूर वर्ग का राजनीतिक संघर्ष भी उनके एजेण्डे पर अभी मौजूद है।

जो बिखरी हुई क्रान्तिकारी वाम ताक़तें हैं, वे अर्थवाद, ट्रेडयूनियनवाद और संसदवाद

(पेज 8 पर जारी)

अणणा हज़ारे जी के नाम कुछ मज़दूर कार्यकर्ताओं की खुली चिट्ठी

पृष्ठ 5

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

आपस की बात

मालिक बनने के भ्रम में पिसते मज़दूर

कम्पनी का मालिक किस हद तक मजदूरों को लूटना चाहता है इसका कुछ कहा नहीं जा सकता। आज बहुत ही कम लगभग पाँच प्रतिशत मज़दूर कम्पनी में पर्मानेण्ट नौकरी पाते हैं। बाकी सब कैजुअल, पीस रेट या ठेके पर काम करते हैं। ये स्थिति पूरे भारत की है। अंदाज़ा सिर्फ़ इससे लगा सकते हैं कि भारत की राजधानी दिल्ली में हाल ही में हुई वेतन बढ़ोत्तरी के बाद अकुशल मजदूरों की तनख़्वाह 6084, अर्द्धकुशल की 6784 रुपये और कुशल मज़दूरों की 7410 है। इसके विपरीत सभी कम्पनियाँ मज़दूरों को अकुशल के लिए 3000 रु और कुशल के लिए रु. 4500 देती हैं। मगर कंपनी मालिक इतना भी नहीं देना चाहते हैं।

बादली औद्योगिक क्षेत्र एफ 2/86 में अशोक नाम के व्यक्ति की कम्पनी है जिसमें बालों में लगाने वाला तेल बनता है और पैक होता है। पैकिंग का काम मालिक ठेके पर कराता है। इस कम्पनी में काम करने वाले आमोद का कहना है कि ये तो 8 घण्टे के 3000 रु. से भी कम पड़ता है। और उसके बाद दुनियाभर की सरदर्दी ऊपर से कि माल पूरा पैक करके देना है। अब उस काम को पूरा करने के लिए आमोद और उसका भाई प्रमोद और उमेश 12–14 घंटे 4–5 लोगों को साथ लेकर काम करता है। आमोद का कहना है कि कभी काम होता है कभी नहीं। जब काम होता है तब तो ठीक नहीं तो सारे मजदूरों को बैठाकर पैसा देना पड़ता है। जिससे मालिक की कोई सिरदर्दी नहीं है। जितना माल पैक हुआ उस हिसाब से हफ्ते में भुगतान कर देता है। अगर यही माल मालिक को खुद पैक कराना पड़ता तो 8–10 मजदूर रखने पड़ते। उनसे काम कराने के लिए सुपरवाइजर रखना पड़ता और हिसाब–किताब के लिए एक कम्प्यूटर ऑपरेटर रखना पड़ता। मगर मालिक ने ठेके पर काम दे दिया और अपनी सारी ज़िम्मेदारियों से छुट्टी पा ली। अगर ठेकेदार काम पूरा करके नहीं देगा तो मालिक पैसा रोक लेगा। मगर आज हम लोग भी तो इस बात को नहीं सोचते हैं। और ठेके पर काम लेकर मालिक बनने की सोचते हैं। काम तो ज्यादा बढ़ जाता है मगर हमारी जिन्दगी में कोई बदलाव नहीं होता। इसलिए आज की यह जरूरत है कि हम सब मिलकर मालिकों के इस लूट तन्त्र को खत्म कर दें।

– आनन्द
राजा विहार, बादली
औद्योगिक क्षेत्र, दिल्ली–42

घोषणापत्र का प्रपत्र : प्रपत्र 4
(नियम 8 के अन्तर्गत)

समाचार पत्र का नाम	मज़दूर बिगुल
पत्र की भाषा	हिन्दी
आवर्तिता	मासिक
पत्र का खुदरा बिक्री मूल्य	पाँच रुपये
प्रकाशक का नाम	कात्यायनी सिन्हा
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006
प्रकाशन का स्थान	निशातगंज, लखनऊ
मुद्रक का नाम	कात्यायनी सिन्हा
पता	69 ए–1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ
मुद्रणालय का नाम	मल्टीमीडियम, 310, संजयगांधी पुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ–226016
सम्पादक का नाम	सुखविन्दर
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज लखनऊ–226006
स्वामी का नाम	कात्यायनी सिन्हा
राष्ट्रीयता	भारतीय

मैं कात्यायनी सिन्हा, यह घोषणा करती हूँ कि उपर्युक्त तथ्य मेरी अधिकतम जानकारी के अनुसार सत्य हैं।

हस्ताक्षर
(कात्यायनी सिन्हा)
प्रकाशक, मुद्रक, स्वामी

क्या आपने ये बिगुल पुस्तिकाएँ पढ़ी हैं?

चोर, भ्रष्ट और विलासी नेताशाही
भारतीय पूँजीवादी जनतन्त्र की एक नंगी और गन्दी तस्वीर
रु. 3.00

बोलते आँकड़े, चीख़ती सच्चाइयाँ
नवउदारवादी अर्थनीति के 18 वर्ष – भारत की तरक्की के दावों के ढोल की पोल – समृद्धि के तलघर में नर्क का अँधेरा
रु. 3.00

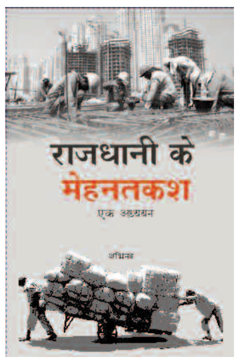

राजधानी के मेहनतकश : एक अध्ययन
– अभिनव
रु. 15.00

फ़ासीवाद क्या है और इससे कैसे लड़ें?
– अभिनव
रु. 15.00

नेपाली क्रान्ति : इतिहास, वर्तमान परिस्थिति और आगे के रास्ते से जुड़ी कुछ बातें, कुछ विचार
– आलोक रंजन
रु. 50.00

मज़दूर बिगुल का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों–कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच–समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच लगातार राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी- चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी–अराजकतावादी ट्रेडयूनियनबाज़ों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भरती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

'मज़दूर बिगुल' इण्टरनेट पर भी उपलब्ध है। इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक 'नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक बिगुल' के सभी अंक, नवम्बर 2010 से आरम्भ 'मज़दूर बिगुल' के अंक और राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। हम 'नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक बिगुल' के प्रवेशांक से लेकर अब तक के सभी अंक वेबसाइट पर उपलब्ध कराने के लिए काम कर रहे हैं। वेबसाइट का पता :
http://sites.google.com/site/bigulakhbar
'बिगुल' के ब्लॉग पर भी आप इसकी सामग्री पा सकते हैं और अपने विचार एवं सुझाव भेज सकते हैं। ब्लॉग का पता :
http://bigulakhbar.blogspot.com

मज़दूर बिगुल 'जनचेतना' की सभी शाखाओं पर उपलब्ध है :

- डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020 फोन : 0522-2786782
- जनचेतना स्टाल, काफ़ी हाउस बिल्डिंग, हज़रतगंज, लखनऊ (शाम 5 से 8 बजे)
- जाफ़रा बाज़ार, गोरखपुर-273001
- जनचेतना, दिल्ली – फ़ोन : 09910462009
- जनचेतना, लुधियाना – फोन : 09815587807

"बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार ख़ुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।" – लेनिन

'मज़दूर बिगुल' मज़दूरों का अपना अखबार है। यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता। बिगुल के लिए सहयोग भेजिये/जुटाइये।
सहयोग कूपन मँगाने के लिए मज़दूर बिगुल कार्यालय को लिखिये।

मज़दूर साथियो, 'आपस की बात' आपका पन्ना है। इसमें छापने के लिए अपने कारख़ाने, काम, बस्ती की समस्याओं, हालत के बारे में, अपनी सोच के बारे में या 'बिगुल' के बारे में लिखकर हमें भेजिये।

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय	: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 फ़ोन : 0522-2335237
दिल्ली सम्पर्क	: बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-94, फ़ोन: 011-64623928
ईमेल	: bigul@rediffmail.com
मूल्य	: एक प्रति – रु. 5/- वार्षिक – रु. 70/- (डाक ख़र्च सहित)

1 मई की तैयारी के लिए दिल्ली के विभिन्न क्षेत्रों में जमकर चला मज़दूर माँगपत्रक प्रचार अभियान

बिगुल संवाददाता

मार्च और अप्रैल के महीनों में दिल्ली के अनेक औद्योगिक क्षेत्रों और उनसे लगी विभिन्न मज़दूर बस्तियों में मज़दूर माँगपत्रक आन्दोलन की प्रचार टोली ने मज़दूरों की व्यापक आबादी को इस आन्दोलन के बारे में बताने और इससे जोड़ने के लिए सघन अभियान चलाया। इस दौरान छोटी-छोटी नुक्कड़ सभाओं, प्रभात फेरियों तथा घर-घर सम्पर्क के अलावा कई मज़दूर बस्तियों में बड़ी जनसभाएँ और सांस्कृतिक कार्यक्रम भी किये गये। अप्रैल के महीने में हुए विभिन्न कार्यक्रमों में मज़दूरों के साथ होने वाली दुर्घटनाओं पर आधारित एक डॉक्यूमेंट्री फ़िल्म भी दिखायी गयी।

उत्तर पश्चिम दिल्ली में 17 मार्च से 23 मार्च (भगतसिंह का शहादत दिवस) तक चलाया गया क्रान्तिकारी जागृति अभियान भी मज़दूर माँगपत्रक आन्दोलन पर ही केन्द्रित रहा और मज़दूरों का आह्वान किया गया कि शहीदों की क्रान्तिकारी विरासत से प्रेरणा लेकर वे अपने जीवन और समाज को बदलने के लिए आगे बढ़ें।

इस अभियान के तहत बादली रेलवे स्टेशन के पास, सूरजपार्क, और सेक्टर-27, रोहिणी की पुनर्वास बस्ती में तीन बड़ी जनसभाएँ और सांस्कृतिक कार्यक्रम आयोजित किये गये। इनकी तैयारी के दौरान प्रचार टोली ने आसपास की बस्तियों में घर-घर जाकर मज़दूर माँगपत्रक के बारे में बताया, मज़दूरों से माँगपत्रक पर हस्ताक्षर कराये और आन्दोलन के लिए पैसे जुटाये। सभी कार्यक्रमों में आसपास की मज़दूर आबादी बड़ी संख्या में एकत्र हुई और बहुत से मज़दूरों ने उत्साहपूर्वक आन्दोलन से जुड़ने की इच्छा व्यक्त की।

इससे पहले मार्च महीने में प्रचार टोली ने बवाना, और होलम्बी कलाँ स्थित मेट्रो विहार की विशाल मज़दूर बस्तियों में कई दिनों तक रुक कर प्रचार अभियान चलाया। इन दोनों बस्तियों में लगभग दो-दो लाख मज़दूर आबादी रहती है। तेजी से विकसित हो रहे बवाना औद्योगिक क्षेत्र तथा नरेला के भोरगढ़ औद्योगिक क्षेत्र में काम करने वाले मज़दूरों के बीच भी टोली ने बड़े पैमाने पर पर्चे बाँटे और माँगपत्रक पर हस्ताक्षर कराए।

दिल्ली के सभी औद्योगिक क्षेत्रों में मज़दूर बारह से चौदह घण्टे काम करते हैं इसलिए सुबह आठ-साढ़े आठ बजे से लेकर देर रात तक मज़दूर बस्तियाँ लगभग सुनसान रहती हैं। अधिकांश कारखानों में लंच के समय भी मज़दूर बाहर नहीं निकलते। ऐसे में मज़दूरों की व्यापक आबादी से सम्पर्क करना ही काफ़ी कठिन काम होता है। प्रचार टोली के सदस्य सुबह-सुबह और देर रात तक मज़दूरों के कमरे-कमरे जाकर उनसे मिलते और बात करते थे।

अप्रैल में, दिल्ली के आनन्द पर्वत और रामा रोड औद्योगिक क्षेत्रों के बीच बसी प्रेम नगर, नेहरू नगर और बलजीत नगर की बड़ी मज़दूर बस्तियों में प्रचार अभियान चलाया गया तथा जनसभा और फिल्म शो आयोजित किया गया। अप्रैल में ही शाहबाद डेयरी की झुग्गी बस्तियों में स्त्री मज़दूरों के बीच प्रचार चलाया गया और क्षेत्र के मुख्य बाज़ार में जनसभा तथा फिल्म शो के माध्यम से मज़दूरों का 1 मई को जन्तर-मन्तर चलने का आह्वान किया गया। राजा विहार और सूरजपार्क गड्ढा बस्ती में भी फिल्म शो तथा जनसभा आयोजित किये गये।

पूर्वी दिल्ली के करावल नगर और झिलमिल औद्योगिक क्षेत्र में भी इस बीच अनेक नुक्कड़ सभाएँ, प्रभात फेरियाँ और जनसभाएँ करके मज़दूरों से मई दिवस की 125वीं वर्षगाँठ पर संसद पर होने वाले प्रदर्शन में शामिल होने का आह्वान किया गया।

पंजाब में लुधियाना, मण्डी गोविन्दगढ़, चण्डीगढ़, उत्तर प्रदेश में गोरखपुर और लखनऊ में मज़दूर माँगपत्रक के समर्थन में प्रचार अभियान तेज़ कर दिया गया। इलाहाबाद, बलिया, जौनपुर और मऊ के कुछ क्षेत्रों में भी माँगपत्रक के पोस्टर तथा पर्चों के माध्यम से प्रचार किया गया।

मज़दूरों ने उत्साह के साथ प्रचार टोली की बातों को सुना, आन्दोलन के पर्चे लिये, कई मज़दूरों ने माँगपत्रक पुस्तिका खरीदी और इसके बारे में और जानने तथा इससे जुड़ने के लिए अपने नाम-पते-फ़ोन नम्बर नोट कराये।

'बिगुल' के पिछले अंकों में प्रकाशित रिपोर्टों से पाठक जानते होंगे कि देश के विभिन्न हिस्सों में माँगपत्रक आन्दोलन-2011 की शुरुआत की गयी है। इसमें भारत के मज़दूर वर्ग का एक व्यापक माँगपत्रक तैयार करते हुए भारत की सरकार से यह माँग की गयी है कि उसने मज़दूर वर्ग से जो-जो वायदे किये हैं उन्हें पूरा करे, श्रम क़ानूनों को लागू करे, नये श्रम क़ानून बनाये और पुराने पड़ चुके श्रम क़ानूनों को रद्द करे। इस माँगपत्रक में 26 श्रेणी की माँगें हैं जो आज के भारत के मज़दूर वर्ग की लगभग सभी प्रमुख आवश्यकताओं का प्रतिनिधित्व करती हैं और साथ ही उसकी राजनीतिक माँगों को भी अभिव्यक्त करती हैं।

यह नयी पहल इस मायने में महत्वपूर्ण है कि मज़दूर अलग-अलग झण्डे-बैनर के तले नहीं बल्कि 'मज़दूर माँग-पत्रक आन्दोलन' के एक ही साझा बैनर के तले अपनी माँगें रख रहे हैं। अलग-अलग लड़ने में मज़दूर खण्ड-खण्ड में बँट जाते हैं जिससे उनकी ताकत कमज़ोर हो जाती है। इसलिए 'मज़दूर माँग-पत्रक आन्दोलन' पूरे मज़दूर वर्ग की माँगों को देश की हुकूमत के सामने रखकर एक लम्बे **'मज़दूर सत्याग्रह'** की शुरुआत कर रहा है।

इस आन्दोलन की माँगों को गढ़ने में देश के अलग-अलग हिस्सों के कुछ स्वतन्त्र मज़दूर संगठनों, यूनियनों और मज़दूर अख़बार ने पहल की है, कुछ इलाक़ों में हुई मज़दूरों की छोटी-छोटी पंचायतों की भी इसमें भूमिका है, लेकिन यह आन्दोलन किसी यूनियन, संगठन या राजनीतिक पार्टी के बैनर तले नहीं है। इसका लक्ष्य है कि 'मज़दूर माँग-पत्रक आन्दोलन' उन सबका आन्दोलन बने जिनकी माँगें इसमें उठायी गयी हैं, यानी देश के समस्त मज़दूर वर्ग का साझा आन्दोलन बने। यह आन्दोलन कई चक्रों में चलेगा। ऐतिहासिक मई दिवस की 125वीं वर्षगाँठ के अवसर पर एक प्रतीकात्मक आरम्भ किया जा रहा है।

माँगपत्रक की कुछ प्रमुख माँगें हैं: काम के घण्टे 8 करना, जबरन ओवरटाइम पर रोक लगाना, न्यूनतम मज़दूरी रु. 11,000 मासिक करना, ठेका प्रथा खत्म करना, कारखानों में सुरक्षा के पूरे इन्तज़ाम करना और दुर्घटनाओं का उचित मुआवज़ा देना, स्त्री मजदूरों को बराबर अधिकार सुनिश्चित करना, प्रवासी मजदूरों के हितों की सुरक्षा करना, सभी घरेलू और स्वतंत्र दिहाड़ी मजदूरों तथा निर्माण मजदूरों का पंजीकरण करना, मालिकों की अन्धेरगर्दी तथा श्रम विभाग के भ्रष्टाचार पर रोक लगाना और श्रम कानूनों के प्रभावी अमल एवं समीक्षा के लिए कार्रवाई करना।

आन्दोलन का मानना है कि आज भ्रष्टाचार के मसले पर देश का मध्यवर्ग काफी उद्वेलित है लेकिन दरअसल सबसे बड़ा भ्रष्टाचार तो वह है जो देश के तमाम मेहनतकशों को उनकी मेहनत के फल से लगातार वंचित रखता है। इस क़ानूनी तथा ग़ैर-क़ानूनी भ्रष्टाचरण के विरुद्ध कोई आवाज़ नहीं उठाता। पिछले 20 वर्ष में देश में जिस स्वर्ग का निर्माण हुआ है उसके तलघर के अँधेरे में रहने वाली 80 फ़ीसदी आबादी को मूलभूत अधिकारों से भी वंचित करके न्याय की दुहाइयाँ नहीं दी जा सकतीं।

**आज घोषणा करने का दिन
हम भी हैं इंसान
हमें चाहिए बेहतर दुनिया
करते हैं ऐलान
घृणित दासता किसी रूप में
नहीं हमें स्वीकार
मुक्ति हमारा अमिट स्वप्न है
मुक्ति हमारा गान!**

प्रेमनगर में मज़दूर दुर्घटनाओं पर फिल्म शो और जनसभा में बड़ी संख्या में मज़दूर जुटे

मज़दूर माँगपत्रक आन्दोलन की प्रचार टोली के सदस्य एक मजदूर बस्ती में प्रचार के लिए जाते हुए

मज़दूर माँगपत्रक आन्दोलन में मज़दूरों की बढ़ती भागीदारी से घबराये मालिकान घटिया हथकण्डों और तिकड़मों पर उतारू

गोरखपुर। (बिगुल संवादाता) गोरखपुर के बरगदवा क्षेत्र में दो वर्ष पहले शुरू हुए मज़दूरों के आन्दोलन की ख़बरों से 'बिगुल' के पाठक परिचित होंगे। उद्योगपतियों, स्थानीय सांसद और पुलिस-प्रशासन के गँठजोड़ की तमाम कोशिशों और दमन-उत्पीड़न के बावजूद दो वर्ष पहले इस क्षेत्र के अनेक कारख़ानों के मज़दूरों ने न केवल अपने संघर्ष में कई सफलताएँ हासिल कीं बल्कि अपना मज़बूत संगठन खड़ा करने और व्यापक स्तर पर मज़दूरों की एकजुटता क़ायम करने की दिशा में भी क़दम बढ़ाये। बरगदवा के साथ ही सहजनवा स्थित 'गीडा' (गोरखपुर औद्योगिक विकास प्राधिकरण) के अनेक कारख़ानों में भी मज़दूरों ने एकजुट और संगठित होने की शुरुआत कर दी। इससे सारे उद्योगपति बौखलाये हुए हैं और किसी भी क़ीमत पर मज़दूरों की एकता को तोड़ने और उन्हें कमज़ोर करने की तिकड़मों में लगे हुए हैं।

जब से गोरखपुर के मज़दूरों के बीच 'मज़दूर माँगपत्रक आन्दोलन' से जुड़ने की लहर चली है तब से उनकी नींद और भी हराम हो गयी है। उन्हें लग रहा है कि अगर मज़दूर देश के पैमाने पर चल रहे इस आन्दोलन से जुड़ेंगे तो उनकी एकता तथा लड़ाकू क्षमता और भी बढ़ जायेगी तथा उनका मनमाना शोषण करना मुश्किल हो जायेगा। इस लिए वे तरह-तरह की घटिया चालें चलकर मज़दूरों को इस नयी मुहिम से जुड़ने से रोकने तथा 1 मई के प्रदर्शन के लिए दिल्ली जाने से रोकने की कोशिश कर रहे हैं। इन कोशिशों में उन्हें गोरखपुर के स्थानीय सांसद की पूरी सरपरस्ती मिली हुई है। पाठकों को ध्यान होगा कि दो वर्ष पहले गोरखपुर में चले लम्बे मज़दूर आन्दोलन के दौरान सांसद योगी आदित्यनाथ खुलकर उद्योगपतियों के पक्ष में आ गये थे और आन्दोलन को बदनाम करने के लिए इसे "माओवादियों द्वारा तथा चर्च के पैसे से चलने वाला" आन्दोलन घोषित कर दिया था।

पुलिस प्रशासन और उद्योगपतियों का गठजोड़ इस कोशिश में किस हद तक जा सकता है इसका उदाहरण 10 अप्रैल को देखने को मिला जब थाना चिलुआताल पुलिस ने वी. एन.डायर्स प्रोसेसर्स प्राइवेट लिमिटेड, स्पिनिंग डिवीज़न के 18 मज़दूरों और उनके प्रतिनिधियों तपीश मैन्दोला, प्रमोद कुमार तथा प्रशान्त को उठवा लिया। ये मज़दूर मालिकान द्वारा बिजली सप्लाई कटवाकर चलते हुए प्लाण्ट को बन्द करवाकर मिल में जबरन तालाबन्दी का विरोध कर रहे थे। मज़ेदार बात यह रही कि कम्पनी मैनेजमेंट दो बजे से पहले ही मजदूरों द्वारा अधिकारियों से मारपीट करने तथा पुलिस द्वारा गिरफ़्तारी की बात कर रहा है जबकि थाना चिलुआताल की जी.डी. में गिरफ़्तारी का समय शाम 4 बजकर दस मिनट दर्ज है। उसी दिन आनन-फ़ानन में सैकड़ों की संख्या में मज़दूरों द्वारा थाने का घेराव करने और फिर ज़िलाधिकारी कार्यालय की ओर मज़दूरों के कूच कर देने से घबराये प्रशासन को मजबूर होकर गिरफ़्तार मज़दूरों तथा मज़दूर प्रतिनिधियों को छोड़ना पड़ा। लेकिन गिरफ़्तार किये गये मज़दूरों में से आठ पर धारा 147, 148, 323, 504, 506, 336 आईपीसी और 7 क्रिमिनल अमेन्डमेंट एक्ट के तहत मुकदमा दर्ज कर लिया गया है। दस अन्य मजदूरों पर धारा 151 के तहत कार्रवाई की गयी है।

भगवापुर स्थित यह फैक्ट्री पिछले छह साल से चल रही है जिसमें 400 से अधिक मज़दूर काम करते हैं। इस कम्पनी का स्टैण्डिंग आर्डर अभी तक रजिस्टर्ड नहीं है। यहाँ मज़दूरों ने लम्बे और कठिन संघर्षों से कुछ श्रम कानून लागू कराये लेकिन अभी भी करीब डेढ़ सौ मज़दूरों को ईएसआई और पीएफ की सुविधा नहीं मिलती। यहाँ चार सौ में से मात्र 12 मज़दूरों को ही कुशल मज़दूर का वेतन मिलता है जबकि अधिकांश मज़दूर आधुनिक मशीनों पर कुशलतापूर्वक काम करते हैं। ट्रेनी मज़दूरों को मात्र 110 रुपये की दिहाड़ी पर भर्ती किया जाता है और उनके कार्ड पर नियुक्ति की तिथि तक दर्ज नहीं की जाती है जबकि उनसे सारा काम कराया जाता है। पिछले माह कम्पनी ने मात्र 75 मजदूरों को ही सीएल दिया गया। आवाज़ उठाने वाले मज़दूरों को सरेआम गुण्डों से पिटवाना, जबरिया इस्तीफ़ा लिखवाना, यहाँ तक कि दुर्घटना के कारण बुरी तरह घायल मज़दूरों को अस्पताल तक न पहुँचाना या फिर बायलर में झुकवा देना कम्पनी की स्थापित कार्यशैली बन चुकी है।

मालिकान के लिए दिनों रात खटने वाले ये 400 मज़दूर दस रुपया किलो के भाव से मिलने रूओं को 24 घण्टों में 16 टन धागे में बदल देते है। यह धागा बाजार में 200-250 रुपया प्रति किलो के हिसाब से बिकता है। टैक्स सहित परिचलन के सभी खर्च काटकर, जिसमें मजदूरी भी शामिल है, कम्पनी को प्रतिमाह 56 लाख 70 हज़ार रुपये का शुद्ध मुनाफ़ा होता है। मज़दूर यदि 2 घण्टा प्रतिदिन काम कर ले तो उसकी मज़दूरी का सारा खर्च निकल आता है। इस तरह ये चार सौ मजदूर प्रतिदिन छह घण्टा बिना कोई मेहनताना लिये काम करते रहते हैं। ज़ाहिर है कि छह घण्टे का यह अतिरिक्त श्रम मालिक का मुनाफ़ा, सरकार का टैक्स, बैंक का ब्याज, अफ़सरों की रिश्वत, राजनीतिक दलों के चन्दे, काले धन के जखीरे और विभिन्न रूपों में समाज के शासक-शोषक तबकों के बीच बाँटा जाता है। यही वजह है कि स्थानीय पुलिस प्रशासन, श्रम विभाग, स्थानीय नेता सभी मज़दूरों के ख़िलाफ़ गोलबन्द हो जाते हैं।

मजदूरों ने बिगुल मज़दूर दस्ता और संयुक्त मज़दूर अधिकार संघर्ष मोर्चा के नेतृत्व में लम्बी लड़ाई की योजना बना ली है। गाँवों में घूम-घूम कर मज़दूर गेहूँ, आलू, प्याज़, सरसों का तेल, नमक, जलावन के लिए गोइठा आदि इकट्ठा कर रहे हैं। इलाके की दूसरी फैक्ट्रियों के मज़दूर संघर्ष भत्ते के लिए अपनी दो-दो दिहाड़ी प्रति माह देने के लिए तैयार हैं। वी.एन. डायर्स के मजदूरों की यह माँग है कि बिना शर्त तालाबन्दी खत्म की जाये। फ़र्ज़ी मुक़दमे वापस लिये जायें। झूठी तहरीर देने वाले मालिकान के ख़िलाफ़ मुक़दमा दायर हो और थानाध्यक्ष चिलुआताल की भूमिका की जाँच कराकर दोषी पाये जाने पर दण्डित किया जाये।

स्थानीय पैमाने पर संघर्ष की तैयारी के साथ ही बरगदवा और गीडा के मज़दूर भारी तादाद में मई दिवस को दिल्ली जाने की भी तैयारियों में लगे हैं।

पूर्वी उत्तर प्रदेश के मजदूर संगठनों/यूनियनों के नाम गोरखपुर के मज़दूरों की अपील

मेहनतकश सार्थियो,

हम आपके ही भाई हैं, अलग-अलग विभागों, कारखानों, कार्यालयों में काम करते हुए हममें से कोई कुछ कम मजदूरी पाता है तो कोई कुछ ज्यादा। कोई यूनियनों के रूप में संगठित है तो कोई इस अधिकार से अभी तक वंचित है। लेकिन हम सब मेहनतकश मज़दूर-कर्मचारी भाईचारे की डोर से बँधे हुए हैं।

हम आपको बताना चाहते हैं कि गोरखपुर के बरगदवा स्थित वी.एन. डायर्स धागा मिल के प्रबन्धन ने हमारे साथ धोखा किया है। आपको बता दें कि हम 400 मजदूर इसे चलाते हैं। प्रतिदिन कम्पनी के लिए 10 रुपया किलो के भाव से मिलने वाले रूये को हम अपनी मेहनत से 16 टन धागे में बदल देते हैं जो बाज़ार में 250 रुपये प्रति किलो तक की दर से बिकता है। हम लोग यदि मात्र दो घण्टा काम करें तो हमारी सारी मज़दूरी का खर्च निकल आता है। इतना सब करने के बाद भी मालिकान ने पिछली 10 अप्रैल को दोपहर 2.30 बजे बिजली कटवाकर चलता हुआ प्लाण्ट बन्द करवा दिया और उल्टे हम मज़दूरों पर मारपीट करने का आरोप लगाते हुए तालाबन्दी घोषित कर दी। इतना ही नहीं उन्होंने पुलिस प्रशासन से मिलकर 10 मज़दूरों पर धारा 147, 148, 323, 504, 506, 336 आईपीसी और 7 क्रिमिनल अबेटमेंट के तहत फर्जी मुकदमे दायर करवा दिये और 8 अन्य मजदूरों पर धारा 151 के तहत कार्रवाई हुई। आप सोच रहे होंगे कि आख़िर मालिकान ने ऐसा क्यों किया? उनकी मंशा क्या है?

साथियो, यहाँ यह समझना ज़रूरी है कि यह मामला केवल वी.एन. डायर्स तक ही सीमित नहीं है। बरगदवा के विभिन्न कारख़ानों के मज़दूर लगातार जागरूक, गोलबन्द एवं संगठित हो रहे हैं। कुछ महीने पहले देश के कई हिस्सों में शुरू हुए 'मज़दूर माँगपत्रक आन्दोलन' से भी वे जुड़ रहे हैं। गीडा क्षेत्र के फैक्ट्री और दिहाड़ी मजदूर भी बड़ी संख्या में 1 मई को दिल्ली में होने वाले प्रदर्शन में शामिल होने की तैयारी कर रहे हैं। मई दिवस की 125वीं वर्षगांठ पर हो रहे इस प्रदर्शन में दिल्ली, नोएडा, गाज़ियाबाद, लुधियाना, मण्डी गोविन्दगढ़, चण्डीगढ़, छत्तीसगढ़ आदि जगहों से हज़ारों मजदूर शामिल होंगे और मज़दूर वर्ग की तमाम बुनियादी माँगों और जनवादी तथा राजनीतिक अधिकारों की माँगों को लेकर 26 सूत्री माँगपत्रक भारत सरकार को सौंपेंगे।

गोरखपुर के मजदूरों की बढ़ती चेतना और संगठनबद्धता तथा देश के पैमाने पर व्यापक मज़दूर एकता क़ायम करने की उनकी चेष्टा ने उद्योगपतियों, उनकी प्रतिनिधि संस्थाओं और मज़दूरों के बीच दलाली करने वालों तथा कुछ मज़दूर विरोधी प्रशासकों की रीढ़ में सिहरन पैदा कर दी है। 'मजदूर माँगपत्रक आन्दोलन-2011' में मज़दूरों की भागीदारी को रोकने तथा उनकी सांगठनिक एकता को नष्ट करने के लिए इन्होंने बहुत सोच-समझकर वी.एन.डायर्स मिल का चुनाव किया जो कपड़ा और धागा दोनों बनाती है। कारण यह है कि गारमेण्ट उद्योग से जुड़े होने के कारण इसी मिल में षड्यंत्र की बिसात सफलतापूर्वक बिछाई जा सकती थी। हम सभी जान रहे हैं कि सरकार द्वारा टैक्स बढ़ाये जाने के विरोध में गारमेण्ट उद्योग के मालिकान पहले से ही आन्दोलनरत हैं। वैसे कम ही लोग जानते है कि हर साल अप्रैल मध्य तक यह कम्पनी कपड़े का इफ़रात स्टाक तो रखती है लेकिन उसे बाज़ार में उतारती नहीं है ताकि मई माह का अन्त आते-आते बाज़ार में कपड़े की कृत्रिम कमी होने लगे और स्कूलों का नया सत्र करीब आने पर कपड़े की बढ़ी हुई माँग का लाभ उठाकर बढ़ी हुए कीमतों पर माल बेचकर भारी मुनाफा कमाया जाये। तालाबन्दी करके कम्पनी ने यहाँ एक तीर से कई निशाने साधने की कोशिश की है।

1. मजदूरों पर हड़ताल का आरोप मढ़ते हुए तालाबन्दी करके उसे 400 मज़दूरों को ले-ऑफ़ नहीं देना पड़ेगा।

2. बढ़े हुये दामों पर जमा स्टाक बेचने से भारी मुनाफ़ा मिलेगा।

3. मज़दूर असन्तोष पैदा होने से सरकार पर टैक्स वापस लेने का दबाव बढ़ेगा।

4. जो मज़दूर अपने हक़ों की आवाज़ उठाते रहे हैं उन्हें कम्पनी से बाहर करने का यह एक सुनहरा मौक़ा होगा।

5. बड़े पैमाने पर मजदूरों की छँटनी करके मज़दूर संगठन को स्थानीय स्तर पर संगठित होने और 'देशव्यापी मजदूर माँगपत्रक आन्दोलन' से मज़दूरों के जुड़ने की कोशिशों को चोट पहुंचायी जा सकेगी।

हमारी आपसे अपील है कि उद्योगपतियों, दलालों और कुछ प्रशासनिक अधिकारियों की मिलीभगत से जारी इस षड्यंत्र को फ़ैसलाकुन ढंग से परास्त करने के लिए हमारा साथ दें। हमारे पक्ष में शासन-प्रशासन पर दबाव डालें। अपने संगठन/यूनियन की ओर से उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री, श्रम मंत्री, श्रम सचिव, गोरखपुर के मण्डलायुक्त, ज़िलाधिकारी, उप श्रमायुक्त तथा पुलिस उपमहानिरीक्षक को विरोध पत्र भेजें तथा मीडिया में हमारे समर्थन में बयान जारी करें।

यदि आप स्वतन्त्र रूप से या साझा प्रतिनिधि मंडल बनाकर ज़िला प्रशासन से मिलकर इस मुद्दे पर दबाव बना सकें तो उसका बहुत अधिक प्रभाव पड़ेगा।

हम विश्वास है कि इन्साफ़ की इस लड़ाई में आप इस बार भी हमारा साथ ज़रूर देंगे।

संग्रामी अभिवादन के साथ,
संयोजन समिति
संयुक्त मजदूर अधिकार संघर्ष मोर्चा, गोरखपुर

अण्णा हज़ारे जी के नाम कुछ मज़दूर कार्यकर्ताओं की खुली चिट्ठी

मिले,
श्री अण्णा हज़ारे
ग्राम एवं पोस्ट रालेगाँव सिद्धि
तालुका पारनेर, ज़िला अहमदनगर
महाराष्ट्र

आदरणीय अण्णा हज़ारे जी,

हम आपके सामाजिक सरोकारों और जनजीवन से जुड़ी चिन्ताओं की इज़्ज़त करते हैं। आपकी भ्रष्टाचार-विरोधी मुहिम से सारा देश परिचित है। राजनेताओं नौकरशाहों- जजों के भ्रष्टाचार पर नियंत्रण के लिए जन लोकपाल क़ानून बनाने की आपकी माँग सरकार मान चुकी है और अब सरकार और "सिविल सोसाइटी" के प्रतिनिधियों की साझा ड्राफ़्टिंग कमेटी विधेयक का मसौदा तैयार करने में जुट गयी है। भ्रष्टाचार के ख़िलाफ़ अपनी मुहिम को आप देश स्तर पर फैलाने और आगे बढ़ाने की घोषणा कर चुके हैं। चुने हुए जन प्रतिनिधियों को वापस बुलाने के प्रावधान की भी आपने माँग की है। पढ़े-लिखे लोगों की अच्छी-ख़ासी आबादी आपकी मुहिम को *"एक नयी क्रान्ति"* का आग़ाज़ तक बता रही है। कुछ नेता और बुद्धिजीवी शंकाएँ और विवाद भी उठा रहे हैं। **पर हम लोगों के मन में कुछ और सवाल उमड़-घुमड़ रहे हैं। इन सवालों की ज़मीन आम मेहनतकशों की ज़िन्दगी की समस्याएँ हैं। आप लोकतांत्रिक परम्परा और पद्धति के पक्षधार व्यक्ति हैं। हमारा भरोसा है कि हमारे सवालों को यूँ ही दरकिनार नहीं कर देंगे और स्वस्थ और खुले ढंग से इन पर एक देशव्यापी बहस सम्भव हो सकेगी।**

भ्रष्टाचार का सामना हम आम ग़रीब लोग अपनी रोज़-रोज़ की ज़िन्दगी में सबसे अधिक करते हैं। कदम-कदम पर छोटे से छोटे काम के लिए जो रिश्वत हमें देनी पड़ती है, वह रकम खाते-पीते लोगों को तो कम लगती है, मगर हमारा जीना मुहाल कर देती है। भ्रष्टाचार केवल कमीशनख़ोरी और रिश्वतख़ोरी ही नहीं है। **सबसे बड़ा भ्रष्टाचार तो यह है कि करोड़ों मज़दूरों को जो थोड़े बहुत हक़-हक़ूक श्रम क़ानूनों के रूप में मिले हुए हैं, वे भी फाइलों में सीमित रह जाते हैं और अब उन्हें भी ज़्यादा से ज़्यादा बेमतलब बनाया जा रहा है। अदालतों से ग़रीबों को न्याय नहीं मिलता। पूँजी की मार से छोटे किसान जगह-ज़मीन से उजाड़कर तबाह कर दिये जाते हैं और यह सब कुछ एकदम क़ानूनी तरीक़े से होता है! जिस देश में 40 प्रतिशत बच्चे और 70 प्रतिशत माँएँ कुपोषित हों, 40 प्रतिशत लोगों का 'बॉडी मास इण्डेक्स' सामान्य से नीचे हो, 18 करोड़ लोग झुग्गियों में रहते हों और 18 करोड़ बेघर हों, वहाँ सत्ता सँभालने के 64 वर्षों बाद भी सरकार यदि जीवन की बुनियादी ज़रूरतों को पूरा करने की ज़िम्मेदारी नहीं उठाती (उल्टे उन्हें घोषित तौर पर बाज़ार की शक्तियों के हवाल कर देती हो), तो इससे बड़ा विधिसम्मत सरकारी भ्रष्टाचरण भला और क्या होगा?** इससे अधिक अमानवीय "क़ानूनी" भ्रष्टाचरण भला और क्या होगा कि मानव विकास सूचकांक में जो देश दुनिया के निर्धनतम देशों की पंगत में (उप सहारा के देशों, बंगलादेश, पाकिस्तान आदि के साथ) बैठा हो, जहाँ 70 प्रतिशत से अधिक आबादी को शौचालय, साफ पानी, सुचारु परिवहन, स्वास्थ्य सेवा तक नसीब न *हो, वहाँ संविधान में "समाजवादी लोकतांत्रिक गणराज्य"* होने का उल्लेख होने के बावजूद सरकार ने इन सभी ज़िम्मेदारियों से हाथ खींच लिया हो और समाज से उगाही गयी सारी पूँजी का निवेश पूँजीपति 10 फ़ीसदी आबादी के लिए आलीशान महल, कारों बाइकों-फ्रिज-ए.सी. आदि की असंख्य किस्में, लकदक शॉपिंग मॉल और मल्टीप्लेक्स आदि बनाने में कर रहे हों तथा करोड़पतियों-अरबपतियों की संख्या लगातार बढ़ती जा रही हो।

●

रिश्वतख़ोरी, कमीशनख़ोरी, टैक्स चोरी, मिलावटख़ोरी, भाई-भतीजावाद भला कौन चाहेगा? यदि ये न होते तो अच्छा ही होता। लेकिन अण्णाजी, माफ़ करें, हमारा सवाल तो यह है कि भ्रष्टाचार मात्र इसी का नाम नहीं है। भ्रष्टाचार और अनैतिकता का फ़ैसला क़ानूनी-ग़ैरक़ानूनी होने से नहीं, बल्कि सामाजिक-राजनीतिक आचरण के व्यापक जनहित के अनुकूल या प्रतिकूल होने से तय होता है। थोड़ी देर के लिए मान लें कि एकदम विधिसम्मत तरीक़े से एक कारख़ानेदार किसी चीज़ के उत्पादन और आपूर्ति का ठेका लेता है और श्रम क़ानूनों का पालन करते हुए मज़दूर की श्रम शक्ति आठ या दस घण्टे के लिए ख़रीदता है, उतने मूल्य का उत्पादन तो मज़दूर दो या तीन घण्टे में ही कर देता है, शेष मूल्य जो वह पैदा करता है उसमें से कच्चे माल की क़ीमत, मरम्मत-मेन्टेनेंस आदि का खर्च निकालने के बाद बची रकम पूँजीपति का मुनाफ़ा होता है जिसका निवेश करके वह नये कारख़ाने खोलता है, नयी मशीनें लाता है। मज़दूर जो पैदा करता है, उस पर उसका कोई नियंत्रण नहीं होता। पूँजीपति उसे उतना ही देता है जितने में वह ज़िन्दा रहकर, न्यूनतम ज़रूरतें पूरा करके काम करता रह सके। पूँजीवाद में उत्पादन सामाजिक उपभोग के हिसाब से नहीं बल्कि मुनाफ़े के हिसाब से निर्देशित होता है। पूँजीपति कई होते हैं। मुनाफ़े की प्रतिस्पर्द्धा गलाकाटू होती है। बड़ी पूँजी छोटी पूँजी को निगलकर डकार भी नहीं लेती। मुनाफ़ा बढ़ाने की होड़ में पूँजीपति मज़दूरों से ज़्यादा से ज़्यादा काम कराने की तरक़ीबें निकालते हुए मज़दूरों द्वारा हासिल क़ानूनी हक़ों को भी हड़प लेते हैं, जबरिया सिंगल रेट ओवरटाइम कराते हैं। सुरक्षा उपकरण, स्वास्थ्य मुआवज़े आदि मदों के ख़र्चों को मार लेते हैं, फिर टैक्स भी चुरा लेते हैं तथा नेताओं-अफ़सरों को रिश्वत भी खिलाते हैं। **मतलब यह कि पूँजीवादी लूट-खसोट की होड़ जब क़ानूनी दायरे में होती है तब भी वह आम मेहनकशों के हक़ मारती है और फिर यह होड़ क़ानून की चौहद्दी को लाँघ जाती है तो रिश्वतख़ोरी कमीशनख़ोरी के रूप में समाज में काला धन का अम्बार इकट्ठा करने लगती है और विलासी नेताओं-अफ़सरों- दलालों का बिचौलिया तबका भी चाँदी काटने लगता है।** थोड़ा और आगे बढ़ें। मुनाफ़े की रफ़्तार बढ़ाने के लिए पूँजीपति फिर उन्नत मशीनें और नयी तकनीकें लाता है, कम मज़दूरों से ज़्यादा उत्पादन लेता है, बाक़ी मज़दूरों को बाहर निकाल देता है। मज़दूरों की बेरोज़गारी बढ़ने से उनकी मोलतोल की ताकत घट जाती है और वे और अधिक कम मज़दूरी पर काम करने को तैयार हो जाते हैं। **ब्लैकमेलिंग का यह काम भी एकदम क़ानूनी तरीक़े से होता है।** पूँजी बटोरकर प्रतिस्पर्द्धी को पीछे छोड़ने के लिए पूँजीपति बैंक से जनता की बचत उधार लेते हैं, एक से दस बनाते हैं और उसका एक अत्यंत छोटा हिस्सा ब्याज के रूप में वापस करते हैं। यह धोखाधड़ी भी क़ानूनी ढंग से होती है। फिर वे शेयर बाज़ार से पूँजी बटोरने उतरते हैं, पहले शेयर का क़ानूनी खेल होता है फिर वही तर्क नियंत्रण से बाहर जाकर ग़ैरक़ानूनी सट्टेबाज़ी को परवान चढ़ाता है। **पूँजी बढ़ाने की यह होड़ ही हवाला कारोबार, ग़ैरक़ानूनी कारख़ानों और तमाम ग़ैरक़ानूनी कारोबारों को जन्म देती है और फिर अपराध को भी एक संगठित कारोबार बना देती है। माल बेचने के लिए अरबों-खरबों खर्च करके विज्ञापनों द्वारा जो भ्रामक प्रचार किये जाते हैं, वह भी क़ानूनी ठगी नहीं तो भला और क्या है?**

पूँजीवाद की समूची कार्यप्रणाली का विवरण न तो यहाँ सम्भव है, न ही हमारा यह उद्देश्य है। पहली बात हम कहना यह चाहते हैं कि **जिस पूँजीवादी व्यवस्था में उत्पादन सामाजिक उपभोग को केन्द्र में रखकर नहीं बल्कि मुनाफ़े को केन्द्र में रखकर होता है, वह यदि एकदम क़ानूनी ढंग से काम करे तो भी अपने आप में ही वह भ्रष्टाचार और अनाचार है। जो पूँजीवाद अपनी स्वतन्त्र आंतरिक गति से धनी-ग़रीब की खाई बढ़ाता रहता है, जिसमें समाज की समस्त सम्पदा पैदा करने वाली बहुसंख्यक श्रमिक आबादी की न्यूनतम ज़रूरतें भी पूरी नहीं हो पाती, वह स्वयं एक भ्रष्टाचार है। जिस पूँजीवादी लोकतन्त्र में उत्पादन, राजकाज और समाज के ढाँचे को चलाने में सामूहिक उत्पादकों की कोई प्रत्यक्ष भूमिका नहीं होती और निर्णय की ताकत वस्तुतः उनके हाथों में अंशमात्र भी नहीं होती, वह एक 'फ्रॉड' है। जो पूँजीवादी राजनीतिक तन्त्र नागरिकों को काम करने का मूलभूत अधिकार नहीं देता और सम्पत्ति को मूलभूत अधिकार का दर्ज़ा देता है, वह स्वयं में एक भ्रष्टाचार है! हम मेहनकश अपने अनुभव से जानते हैं कि पूँजीवाद यदि भ्रष्टाचार मुक्त हो जाये, तो भी मज़दूरों को शोषण-उत्पीड़न से मुक्ति नहीं मिल सकती।**

दूसरी बात जो हम कहना चाहते हैं, वह यह कि भ्रष्टाचार की मात्रा घटती-बढ़ती रह सकती है, लेकिन **पूँजीवाद कभी भ्रष्टाचार मुक्त नहीं हो सकता! भ्रष्टाचार मुक्त पूँजीवाद एक मिथक है, एक मध्यवर्गीय आदर्शवादी यूटोपिया है।** यदि किसी सदाचारी पूँजीवाद का अस्तित्व भी होता तो वह आम मेहनकश जन के लिए, और उसकी निगाहों में, अनाचारी-अत्याचारी-भ्रष्टाचारी ही होता है। हर पूँजीवादी लोकतन्त्र में सरकारें मूलतः पूँजीपतियों की 'मैनेजिंग कमेटी' की भूमिका निभाती हैं। संसद बहसबाज़ी का अड्डा होती है जहाँ पूँजीपतियों के हित में और जनदबाव को हल्का बनाकर लोकतन्त्र का नाटक जारी रखने के लिए वही क़ानून बनाये जाते हैं जो (सदन में बहुमत के बूते) सरकार चाहती है और पूँजीवाद के सिद्धांतकार जिनका खाका बनाते हैं। राज्यसत्ता का सैन्यबल हर जन विद्रोह को कुचलने को तैयार रहता है, साथ ही वह वैश्विक-क्षेत्रीय चौधराहट के मसलों को युद्ध के ज़रिए हल करने के लिए भी सन्नद्ध रहता है। न्यायपालिका न्याय की नौटंकी करते हुए पूँजीपतियों के हित में बने क़ानूनों के अमल को सुनिश्चित करती है, मूलतः सम्पत्ति के अधिकार और सम्पत्तिवानों के विशेषाधिकारों की हिफ़ाज़त का काम करती है तथा शासक वर्गों के आपसी झगड़ों में मध्यस्थ की भूमिका निभाती है। इन सभी कामों में लगे हुए लोग पूँजीपतियों के वफ़ादार सेवक होते हैं और सेवा के बदले उन्हें ऊँचे वेतनभत्तों और विशेषाधिकारों का मेवा मिलता है। यदि वे सिर्फ़ इस मेवे पर ही निर्भर रहें तो आम लोगों के मुक़ाबले उनका जीवन 'स्वर्ग का जीन' होता है। लेकिन व्यवस्था के भीतर पैठने के बाद वे समझ जाते हैं कि वे लुटेरों के सेवक मात्र हैं। पूँजीवादी शासन-प्रशासन की विराट मशीनरी में यदि कोई सदाचारी अफ़सर हो भी तो वह कुछ व्यक्तियों का कल्याण भले कर सकता है, 'सिस्टम' को ज़रा भी नहीं बदल सकता। उसकी बिसात महज एक कल-पुर्जे की होती है और यह समझने के साथ ही आदर्शवादियों का आदर्शवाद हवा हो जाता है। वे भी **"रास्ते पर आ जाते हैं"। लुटेरों के सेवकों से नैतिकता, सदाचार और देशभक्ति की उम्मीद नहीं की जा सकती। तमाम सम्पत्तिधारी परजीवियों के हितों की "क़ानूनी" ढंग से रक्षा करते हुए, उन्हें जहाँ भी मौक़ा मिलता है, अपनी भी ज़ेब गर्म कर लेते हैं।** समूचे पूँजीपति वर्ग के प्रबंधकों और सेवकों के समूह के कुछ लोग, पूँजीपति घरानों की आपसी होड़ का लाभ उठाकर इस या उस घराने से रिश्वत, दलाली और कमीशन की मोटी रकम ऐंठते ही रहते हैं। पूँजीपतियों की यह आपसी होड़ जब उग्र और अनियंत्रित हो कर पूरी व्यवस्था की पोल खोलने लगती है, और बदहाल जनता का क्रोध फूटने का एक बहाना मिलने लगता है तथा "लूट के लिए होड़ के खेल" के नियमों को ताक पर रख दिया जाता है तो व्यवस्था-बहाली और "डैमेज कंट्रोल" के लिए पूँजीपतियों की संस्थाएँ (फिक्की, एसोचैम, सी.आई.आई.आदि), पूँजीवादी सिद्धांतकार, समाज सुधारक आदि चिन्तित हो उठते हैं। जो पूँजीपति स्वयं अपने हित के लिए कमीशन देते हैं, वे भी अलग-अलग और समूह में बढ़ते भ्रष्टचार पर चिन्ता ज़ाहिर करते हैं, सरकार की गिरती साख को बहाल करने के लिए सामूहिक तौर पर चिन्ता ज़ाहिर करते हैं और पूँजीवाद को "भ्रष्टाचार मुक्त" बनाने की मुहिम में लगी स्वयंसेवी संस्थाओं की उदारतापूर्वक फण्डिंग करते हैं। कभी कोई नेता, कभी कोई अफ़सर, तो कभी कोई समाजसेवी भ्रष्टाचार-विरोधी मुहिम का मसीहा और 'ह्विसल ब्लोअर' बनकर सामने आता है जो पूँजीवादी शोषण- उत्पीड़न की व्यवस्था का विकल्प सुझाने के बजाय भ्रष्टाचार को ही सारी बुराई की जड़ बताने लगता है और मौजूद ढाँचे में कुछ सुधारमूलक पैबंदसाज़ी की सलाह देते हुए जनता को दिग्भ्रमित कर देता है। इन 'ह्विसल ब्लोअर' की नीयत यदि एकदम सही भी हो तो वे तरह-तरह के डिटर्जेण्ट लेकर इस व्यवस्था के दामन पर लगे धब्बों को धोने की ही भूमिका अदा करते है। वे भ्रम का कुहासा छोड़ने वाली चिमनी,

(पेज 6 पर जारी)

अण्णा हज़ारे जी के नाम कुछ मज़दूर कार्यकर्ताओं की खुली चिट्ठी

(पेज 5 से आगे)

जनाक्रोश के दबाव को कम करने वाले 'सेफ़्टीवॉल्व' और व्यवस्था के पतन की सरपट ढलान पर बने 'स्पीड ब्रेकर' की ही भूमिका निभाते हैं।

अण्णाजी, हमें आपकी नीयत पर भी शक नहीं है। पर व्यवस्था की कार्यप्रणाली, भ्रष्टाचार के मूल कारण और समस्या के समाधान की आपकी समझदारी पर हमारे सवाल हैं। **भ्रष्टाचार पूँजीवादी समाज की सार्विक परिघटना है। जहाँ लोभ-लाभ की संस्कृति होगी, वहाँ मुनाफ़ा निचोड़ने की हवस क़ानूनी दायरों को लाँघकर खुली लूटपाट और दलाली को जन्म देती ही रहेगी। जनता को भ्रष्टाचार मुक्त पूँजीवाद नहीं चाहिए बल्कि पूँजीवाद से ही मुक्ति चाहिए। जहाँ क़ानूनी शोषण और लूट होगी, वहाँ ग़ैरक़ानूनी शोषण और लूट भी होगी ही। काला धन सफ़ेद धन का ही सगा भाई होता है।**

फ्रांसीसी उपन्यासकार **बाल्ज़ाक** ने यूँ ही नहीं कहा था कि **हर सम्पत्ति-साम्राज्य अपराध की बुनियाद पर खड़ा होता है।** दूर क्यों जायें? हम जन लोकपाल बिल की ड्राफ़्टिंग कमेटी में शामिल **शान्तिभूषण-प्रशान्तभूषण** का ही उदाहरण लेते हैं। हम अमर सिंह के आरोपों और उनके द्वारा प्रस्तुत सीडी के असली-फ़र्जी होने, स्टॉम्पचोरी जैसे आरोपों की चर्चा नहीं कर रहे हैं। पर यह तो सच है कि बसपा विधायकों का दलबदल कराने को लेकर मुलायम सिंह पर चल रहे मुकदमें में शातिभूषण उनके वकील थे। यह तो सच है कि एक-एक पेशी के लिए शांतिभूषण 25 लाख रुपये की फ़ीस लेते हैं। प्रशांतभूषण भी लाखों में ही लेते हैं। आपके मंच पर समर्थन देने आये राम जेठमलानी की भी यही स्थिति है। क्या शुचिता मात्र यही है कि शान्तिभूषण जी अपनी फ़ीस का पूरा हिसाब रखते हैं और टैक्स देते हैं। सवाल क्या यह नहीं है कि इतने मँहगे वकील कितने ग़रीबों को न्याय दिला सकते हैं? क्या कुछ राजनीतिक क़ैदियों को ज़मानत दिला देने, कुछ जनहित याचिकाएँ दाखिल कर देने और जन लोकपाल बिल का मसौदा बनाने में भागीदार हो जाने से सारा पाप-प्रक्षालन हो गया? जिस देश में 77.5 फ़ीसदी आबादी 20 रुपये रोज़ से कम पर जीती हो और जीवन की बुनियादी सुविधाओं से भी वंचित है, वहाँ किसी व्यक्ति के पास 1 अरब 36 करोड़ की दौलत और आठ अचल सम्पत्तियाँ (शांतिभूषण जी की संपत्ति) क्या आपने आप में अनाचार नहीं है? प्रशांतभूषण जी और रामजेठमलानी जैसों की सम्पत्ति भी करोड़ों में है। शांतिभूषण या रामजेठमलानी जिन कॉरपोरेट घरानों के मुकदमों की पैरवी पेशे के नाम पर करते हैं, वे घराने मज़दूरों की हड्डियाँ निचोड़कर और टैक्स चोरी करके ही अकूत धन जुटाते हैं और फिर अपने हितों की क़ानूनी हिफ़ाज़त के लिए शांतिभूषण जैसे वकीलों को मोटी फ़ीस देते हैं। **बाबा रामदेव** भ्रष्टाचार के विरुद्ध ऊँची आवाज़ में बोलते हैं। आपके मंच पर भी आकर समर्थन जता गये। क्या उनके ट्रस्टों द्वारा संचालित प्रतिष्ठानों में जो मज़दूर काम करते हैं, उन्हें श्रम क़ानूनों के अनुसार सारी सुविधाएँ दी जाती है? अभी दिलीप मण्डल के ब्लॉग से यह जानकारी मिली कि **अरविन्द केजरीवाल** की दो एन.जी.ओ संस्थाओं को टाटा घराने के ट्रस्टों से अनुदान मिलते हैं। भ्रष्टाचार की ही बात करें तो टाटा-राडिया टेप की याद दिलाना मात्र काफ़ी होगा। टाटा की जो भी सम्पदा है वह मज़दूरों से अधिशेष निचोड़कर ही संचित हुई है। **जो** शामिल ही नहीं है। यह मध्यवर्गीय कुलीन सुधारवादी बुद्धिजीवियों के मुखर सामाजिक संस्तर से निर्मित हुआ है जो हमारे स्वयंभू प्रतिनिधि बनकर जनहित और समाज-सुधार की बातें करते रहते हैं, पूँजीवादी प्रतिष्ठानों से वित्तपोषित गैरसरकारी संस्थाएँ बनाते हैं और किस्म-किस्म के सामाजिक आन्दोलन करते रहते हैं। "सिविल सोसाइटी" के लोग पूँजीवाद के अन्तरविरोधों को इसकी चौहद्दी के भीतर ही हल करते रहते हैं। पूँजीवादी शोषण और संचय से पैदा होने वाले अन्तरविरोध उग्र होकर पूरे ढाँचे के लिए और पूँजीवादी लोकतन्त्र के लिए ख़तरा न बन जायें, इसके लिए "सिविल सोसाइटी" के प्रतिनिधि लगातार सचेष्ट रहते हैं।

"सिविल सोसाइटी" भ्रष्टाचार-विरोध की मुहिम में सबसे अधिक मुखर है, वह एक कुलीन मध्यवर्गीय सुधारवादी आन्दोलन है जिसके कर्त्ता-धर्त्ता एन.जी.ओ हैं, जिनकी फण्डिंग देशी पूँजीपतियों के ट्रस्टों के अतिरिक्त उन्हीं बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा स्थापित फण्डिंग एजेंसियों से होती है, जो पूरी दुनिया के कच्चे माल को लूटकर, मज़दूरों को निचोड़कर, हथियार से लेकर दवाएँ तक बेचकर अकूत मुनाफ़ा कमाती हैं, तेल के लिए विनाशकारी युद्ध करवाती हैं, सरकारों का तख़्तापलट कराती हैं, और पर्यावरण को तबाह करती हैं। दूसरी ओर यही कम्पनियाँ मुनाफ़े की लूटमार से मचने वाली तबाही को नियंत्रित करने के लिए, जनता को दिग्भ्रमित और शांत करने के लिए, पूँजीवाद के अंतरविरोधों को विस्फोटक होने से बचाने के लिए दान देती हैं, सामाजिक आन्दोलनों का मंच संगठित करने में पीछे से पैसा लगाती हैं, सुधारमूलक कार्यवाइयाँ करती हैं और भ्रष्टाचार विरोधी मुहिम को समर्थन देती हैं। बिलगेट्स, वारेन बफ़ेट्स, अजीम प्रेमजी, टाटा – सभी चैरिटी करते हैं। यह आज से नहीं हो रहा है। उन्नीसवीं शताब्दी से ही यही चलन है।

अब "सिविल सोसाइटी" यानी "नागरिक समाज" के बारे में कुछ और बातें। जाहिर है कि यह "नागरिक समाज" समरूपी मानव समाज नहीं है। वैधिक तौर पर नागरिक होते हुए भी हम मेहनतकशों की बहुसंख्यक आबादी इसमें वस्तुत:

प्रबोधनकाल के दार्शनिकों ने पहली बार जब "नागरिक समाज" की अवधारणा प्रस्तुत की तो मध्ययुगीन प्राकृतिक समाज के बरक्स यह एक प्रगतिशील अवधारणा थी। प्रारम्भिक बुर्जुआ समाज में नागरिक समाज चर्च और सामंती बंधनों से मुक्त होकर वैयक्तिक हितों की अभिव्यक्ति का क्षेत्र भी था और साथ ही बुर्जुआ वर्ग-वर्चस्व (सहयोजन के साथ प्रभुत्व) स्थापित करने का खुला क्षेत्र भी। बुर्जुआ समाज के सुदृढ़ीकरण के साथ ही "नागरिक समाज" वर्ग हितों के संगठनों का समुच्चय और बुर्जुआ वर्ग-वर्चस्व का संगठित उपकरण बन चुका था। **यूँ कहा जा सकता है कि राज्य या "राजनीतिक समाज" ("क़ानूनी" सरकार जिसका अंग है) जहाँ बुर्जुआ वर्ग के प्रत्यक्ष प्रभुत्व या नियंत्रण का काम करता है, वहीं "नागरिक समाज" के बैनर तले प्रभुत्वशाली वर्गों के "अधीनस्थ" बुद्धिजीवी आम जनों पर उसका वैचारिक-सामाजिक वर्जस्व स्थापित करने का काम करते हैं। बुर्जुआ वर्ग को राज्यसत्ता के प्रत्यक्ष प्रभुत्व एवं नियंत्रण के अतिरिक्त अपनी व्यवस्था के लिए जनता की "सहमति" हासिल करने की और जनता को यह अहसास दिलाने की भी जरूरत होती है कि चूँकि और कोई विकल्प सम्भव नहीं है, इसलिए वह पूँजीवादी लोकतन्त्र में ही सुधारों की पैबंदसाज़ी करने और बुराइयों को नियंत्रित करने के 'मेकेनिज़्म' बनात रहने का काम करती रहे।**

सोचने की बात है कि "सिविल सोसाइटी" के लोग उचित न्यूनतम मज़दूरी, काम के घण्टे, दुर्घटनाओं के उचित मुआवज़े और श्रम क़ानूनों के क्रियान्वयन को लेकर (ये भी तो सुधार के ही मुद्दे हैं) मज़दूरों के "गाँधीवादी" तर्ज़ पर जनांदोलन भी क्यों नहीं संगठित करते? इस "नागरिक समाज" में दरअसल हम मेहनतकश आते ही नहीं।

●

अण्णाजी, जन लोकपाल की अवधारणा पर भी हमारी कुछ शंकाएँ हैं। यदि जन लोकपाल पद बन जाये, उसके दायरे में प्रधानमंत्री, सुप्रीम कोर्ट – सभी को ला दिया जाये और जन लोकपाल को बहुत बड़ा स्टॉफ दे दिया जाये तो भी ऊपर से लेकर नीचे ब्लॉक ऑफिस तक व्याप्त भ्रष्टाचार पर वह नियंत्रण कैसे क़ायम कर सकेगा? स्वरूप चाहे जो भी हो, एक स्वायत्त, प्रशासकीय, केन्द्रीकृत नियामक तन्त्र द्वारा भ्रष्टाचार पर रोक एक भ्रम है! स्वायत्तता इस बात की कत्तई गारण्टी नहीं देती कि ऐसा तन्त्र स्वयं भ्रष्ट नहीं होगा या पूँजी के दबाव से मुक्त रह सकेगा। ऐसे किसी तन्त्र द्वारा भ्रष्टाचार पर रोक की सोच कुछ वैसी ही है जैसे किसी "प्रबुद्ध निरंकुश" शासक द्वारा समाज को प्रगति पथ पर ले जाने की सोच। आप तो गाँधीवादी हैं। स्वयं गाँधी भी विकेन्द्रण के पक्षधर थे। यदि नीचे से ऊपर तक जन पहलकदमी और जननिगरानी का तन्त्र न हो, यदि सभी प्रशासनिक कामों पर भी जनता की चुनी हुई कमेटियों का नियंत्रण न हो, तो भ्रष्टाचार रोका ही नहीं जा सकता। ऐसा केवल तभी सम्भव हो सकता है जब उत्पादन, राजकाज और समाज के ढाँचे पर उत्पादन करने वाल सामूहिक तौर पर काबिज हो और फ़ैसले की ताक़त वास्तव में उनके हाथों में हो।

भ्रष्टाचार केवल रिश्वतखोरी ही नहीं है। ग़रीबों को न्याय नहीं मिलता, विचाराधीन क़ैदी जेलों में बूढ़े हो जाते हैं, सामाजिक जीवन में हर कदम पर हैसियत की ताक़त से चीज़ों का फ़ैसला होता है। भ्रष्टाचार के अनगिनत रूप हैं। बिना सामाजिक ढाँचे में आमूलगामी बदलाव के, मात्र कुछ प्रशासकीय इंतज़ामों से उन्हें समाप्त किया ही नहीं जा सकता। सरकारों और सरकारी विभागों के अतिरिक्त, अन्य जगहों पर जो भ्रष्टाचार है, उसका निराकरण कैसे होगा?

जैसी पहले भी चर्चा की जा चुकी है, भ्रष्टाचार पूँजीवाद की सार्विक परिघटना है। यह पश्चिम के समृद्ध देशों में भी है, लेकिन भारत जैसे पिछड़े पूँजीवादी देशों में इसका चरित्र ज्यादा नंगा और फूहड़ है। जिन यूरोपीय देशों में जन लोकपाल (ओम्बड्ट्समैन) जैसी संस्थाएँ मौजूद हैं वहाँ भी भ्रष्टाचार का उन्मूलन नहीं हो सका है। स्वीडन, नार्वे, हालैण्ड आदि जिन देशों में भ्रष्टाचार कम है और आम जनता को भी (धनी-ग़रीब के अंतर के बावजूद) ज्यादा सुविधापूर्ण जीवन हासिल है, वहाँ की हथियार कम्पनियाँ और दवा कम्पनियाँ पूरी दुनिया के बाज़ार से अकूत मुनाफ़ा कूटने, सरकारों को कमीशन देने और ग़रीब देशों की जनता पर गुपचुप दवाओं के जानलेवा प्रयोग करने के लिए कुख्यात हैं। यानी **जो पूँजीवादी समाज सापेक्षत: "भ्रष्टाचार मुक्त" और "शरीफ़ाना" चेहरे वाले हैं, वहाँ के पूँजीपति तो और अधिक जघन्य आपराधिक कार्यवाइयों में लिप्त हैं।**

●

अब आप यह भी कह रहे हैं कि चुनाव-प्रणाली में सुधार के लिए चुने हुए प्रतिनिधियों को वापस बुलाने का प्रावधान और मत पत्र पर सभी उम्मीदवारों को खारिज करने का विकल्प भी होना चाहिए। क्षमा करें, हमें तो यह भी एक पैबंदसाज़ी ही लगती है। वास्तविक जनवाद तो तभी होगा जब हर नागरिक को चुनने सहित चुने जाने का भी अवसर मिले। जबतक संसद-विधानसभाओं के बड़े-बड़े निर्वाचक मण्डल होंगे तबतक चुनाव में पैसे की ताकत की भूमिका बनी रहेगी। होना यह चाहिए कि गाँवों और मुहल्लों के स्तर पर प्रतिनिधि सभा पंचायतें चुनी जायें जो अपने स्तर पर प्रशासकीय और न्यायकारी दायित्व भी सम्हालें और ऊपर के पंचायती स्तर के लिए प्रतिनिधि भी चुनें। इस तरह नीचे से ऊपर तक शासन-प्रशासन की एक पिरामिडीय संरचना होगी, चुनावों का खर्चा नाममात्र का रह जायेगा, विधायी एवं कार्यकारी काम जनप्रतिनिधियों के एक ही निकाय के हाथों में होंगे, जन निगरानी तन्त्र नौकरशाही की निरंकुशता को समाप्त कर देगा तथा सत्ता के केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण में द्वंद्वात्मक संतुलन स्थापित हो जायेगा, पर केन्द्रीय स्तर पर भी शासन-प्रशासन की व्यवस्था सामूहिक, पारदर्शी और जन निगरानी के मातहत होगी। **इतने आमूलगामी बदलाव के बाद ही चुनाव प्रणाली और शासन में व्याप्त भ्रष्टाचार मिटाया जा सकता है और ऐसा बदलाव स्वामित्व और उत्पादन की पूँजीवादी प्रणाली के मौजूद रहते सम्भव ही नहीं।**

आदरणीय अण्णाजी, स्वामी रामदेव कहते हैं कि विदेशों में मौजूद सारा काला धन देश में वापस आना

(पेज 7 पर जारी)

पूँजीवादी लोकतन्त्र मज़दूरों के साथ धोखा है!

— मज़दूर माँगपत्रक आन्दोलन

अण्णा हज़ारे जी के नाम कुछ मज़दूर कार्यकर्ताओं की खुली चिट्ठी

(पेज 6 से आगे)

चाहिए (1948 से 2008 के बीच कुल 213.2 बिलियन डालर काला धन बाहर हस्तांतरित हो चुका है) और मीडिया जोड़ घटाव करके बताता है कि इससे देश की कितनी जबर्दस्त तरक्की हो सकती है? सुप्रीम कोर्ट भी इस दिशा में कड़े कदम उठाने का निर्देश देता है। पर हमारे मन में तो बहुतेरी शंकाएँ उठती हैं और यह सबकुछ लोकलुभावन वायदों का खेल लगता है। मध्यवर्गीय देशभक्ति के खुमार में डूबे लोगों की झुँझलाहट मोल लेकर भी हम कहना चाहेंगे कि विभिन्न आकलनों के हिसाब से, जितना काला धन देश के बाहर है, उससे अधिक देश के भीतर है। पहले सरकार उसे ही क्यों नहीं जनकल्याण के कामों में लगा देती है! इसके अलावा, पुराने राजे-रजवाड़ों ने खरबों की पारिवारिक सम्पत्ति ट्रस्ट आदि बनाकर बचा ली है। टैक्स चोरी और काले धन को सफेद करने के लिए ही सभी व्यावसायिक घराने ट्रस्ट बनाते हैं और खरबों के वारे-न्यारे हर वर्ष करते हैं। मठों-महन्तों-मन्दिरों के ट्रस्ट-आश्रमों के पास अकूत चल-अचल सम्पत्ति सदियों से पड़ी है और रोज़ बढ़ती जा रही है। क्या इन सबकों नियंत्रण में लेकर सरकार स्कूल, अस्पताल, सड़क, खाद्यान्न सुरक्षा, आवास आदि योजनाओं में लगा सकती है?–कत्तई नहीं। **'सम्पत्तिधारियों की मैनेजिंग कमेटी, सम्पत्ति-हरण नहीं कर सकती, वह संचय और पूँजी संचय के खेल में आई अराजकता को नियंत्रित कर सकती है, पर न तो इस खेल को बन्द करा सकती है, न ही उसके नियम बदल सकती है।** विदेशों में जो काला धन जमा है, वैसे तो उसे वापस लाने में सैकड़ों अन्तरराष्ट्रीय कानूनी अड़चने हैं और इस प्रक्रिया के लागू होने तक उसके बड़े हिस्से को फिर से छुपा देने के रास्ते भी हैं। चलिए, थोड़ी देर को मान लेते है कि देश के भीतर और देश के बाहर का सारा काला धन जनकल्याण के कामों और विविध निर्माण कार्यों में लगा दिया जाये, तो वह सारा काम नौकरशाहों और ठेके लेने वाली बड़ी कम्पनियों से लेकर विदेशी कम्पनियों के नेटवर्क द्वारा ही होगा। काला धन पूँजी बनकर मजदूरों को निचोड़ने के काम आयेगा, ठेकों में कमीशनखोरी होगी, कामों में घपला होगा और विकास कार्यों की प्राथमिकताएँ समाज के शक्तिसम्पन्न तबकों द्वारा ही तय होंगी। यानी कुछ पूँजीवादी विकास हो भी जाये तो शोषण-उत्पीड़न असमानता बढ़ने की प्रक्रिया यथावत जारी रहेगी, कमीशनखोरी-रिश्वतखोरी की नीचे से ऊपर तक बनी श्रृंखला जनलोकपाल की दूरबीनों-खुर्दबीनों के बावजूद कार्यरत रहेगी और काले का अम्बार फिर से इकट्ठा होने लगेगा। पर पहली बात तो यही है कि देश-विदेश में छिपे काले धन को कुछ पूँजीपतियों और सरकार के चाहने पर भी न तो बाहर निकालकर जनहित के कामों में लगाया जा सकता है न ही काले धन की संचय-प्रक्रिया रोकी जा सकती है। सवाल यहाँ कुछ लोगों की नीयत का नहीं है, पूँजीवादी मशीनरी की कार्यविधि का है। इसीलिए, ऊपर हमने विस्तार से चर्चा की है कि भ्रष्टाचार मुक्त पूँजीवाद एक मृगमरीचिका है, एक भ्रामक मिथक है और यह कि पूँजीवाद (एकदम विधिसम्भव ढंग से काम करे तो भी) अपने आप में भ्रष्टाचार है, अनाचार है।

आदरणीय अण्णाजी, हम विनम्रतापूर्वक यह अप्रिय बात कह डालना चाहते हैं कि आपके भ्रष्टाचार-विरोधी आन्दोलन के चमत्कारी छवि-निर्माण में इलेक्ट्रॉनिक मीडिया ने बहुत बड़ी भूमिका निभायी। मंच से उचित आप सभी लोग मीडिया वालों को बार-बार धन्यवाद दे रहे थे और *"लोकतन्त्र का सजग प्रहरी" "चौथा खम्भा"* आदि बताते नहीं थक रहे थे। यदि स्थानाभाव नहीं रहता तो हम तथ्यों और आँकड़ों सहित बताते कि **पूँजी से संचालित इन चैनलों को अपराध, डकैती, सनसनी, गंदे मसाले सबकुछ बेचकर पैसे कमाने हैं। इनमें लगे मीडियाकर्मी केवल बौद्धिक उजरती मज़दूर हैं। उन्हें थोड़ा सामाजिक सरोकार भी देखाने की इजाज़त है क्योंकि वह भी बिकता है। मीडिया थोथे आदर्श भी बेचता है, छद्म नायकत्व का मिथक गढ़ता है और उसे भी बेचता है क्योंकि मिथ्या आशाओं की तलाश में भटकते मध्यवर्ग में (जो इलेक्ट्रॉनिक मीडिया का सबसे बड़ा उपभोक्ता है और उसमें विज्ञापित सामग्रियों का सबसे बड़ा उपभोक्ता है और उसमें विज्ञापित सामग्रियों का सबसे बड़ा खरीदार) थोथे आदर्श, छद्म नायकत्व और जनविरोधी यूटोपियाओं का जबर्दस्त मार्केट है।**

हम आपके अनशन पर जन्तर-मन्तर गये थे। पहले वहाँ इससे काफी बड़े मजदूरों के प्रदर्शन हो चुके हैं। दस वर्षों से मणिपुर से स्पेशल आर्म्ड फोर्सेज़ ऐक्ट हटाने के लिए अनशन कर रही इरोम शर्मिला भी कुछ दिनों जन्तर-मन्तर पर थीं। मीडिया ने कभी उन्हें तूल नहीं दिया। पर आपके साथ कुछ हज़ार लोगों के बैठने पर उन्हेंने जन्तर-मन्तर को **'मिस्र का तहरीर चौक'** तक घोषित कर दिया। देश के कई शहरों में सिविल सोसाइटी के कुछ लोग प्रतीकात्मक धरने पर दीखे तो आन्दोलन को देशव्यापी बना दिया गया।

हम पहले भी कह चुके हैं कि आपके आन्दोलन ने पूँजीवाद की जड़ों पर चोट करने के बजाय सेफ्टीवॉल्व का काम किया है, व्यवस्था की आन्तरिक गति से पैदा हुई अराजकता (काले धन और भ्रष्टाचार का अनियंत्रित हो जाना) को काबू में लाकर "खेल के नियमो" को बहाल करने की कोशिश की है। पूँजीपतियों की मैनेजिंग कमेटी के रूप में काम करने वाली सरकार की अपनी विवशता थी, पर अन्ततः वह झुक गयी क्योंकि इससे व्यवस्था की खास बहाल हुई। सभी दूरद्रष्टा पूँजीवादी सिद्धान्तकार भी यही चाहते थे। सरकार चलाने वाली कांग्रेस पार्टी की एक तात्कालिक मजबूरी थी। कई विधानसभाओं के चुनाव सिर पर थे और वोट बैंक के खेल की मजबूरियों को देखते हुए वह कोई जाखिम नहीं मोल लेना चाहते थी।

अण्णाजी, **आपके आन्दोलन में दिल्ली और निकटवर्ती इलाकों की करीब एक करोड़ मज़दूर आबादी का प्रतिनिधित्व तो न के बराबर था** (क्या वे "नागरिक समाज" से बहिष्कृत अनागरिक हैं?) हाँ, शहरी मध्यवर्ग के सभी संस्तरों के लोगों का समर्थन था और भागीदारी थी। पर ये लोग भी अपने अलग-अलग बोध और अलग-अलग धारणाओं के साथ आपके आन्दोलन के समर्थन में आये थे।

इनमें सबसे मुखर कुलीन बुद्धिजीवी समुदाय के लोग थे, जो मानते हैं कि चूँकि पूँजीवाद का कोई विकल्प नहीं है, इसलिए वे एन.जी.ओ. बनाकर सिविल सोसाइटी के नुमाइन्दे बनकर "सोशल मूवमेण्ट" चलाकर इसी व्यवस्था को 'मानवीय चेहरा' देने में जुटे रहते हैं। पूँजीवाद लोकतन्त्र को वे आर.टी.आई., जनहित याचिका आदि के द्वारा थोड़ा जवाबदेह और प्रभावी बनाना चाहते हैं, इस व्यवस्था के भीतर अपनी बुराइयों को ठीक करते रहने के लिए 'नियंत्रण-सन्तुलन-भू सुधार' की एक स्वचालन प्रणाली जोड़ना चाहते हैं। कुल मिलाकर ये लोग पूँजीवाद के अन्तरविरोध को असमाधेय बनाने से रोकने वाले लोग हैं और उसके सबसे दूरंदेश रणनीतिकार हैं। इन भद्र लोकतान्त्रिक जीवों के एजेण्डे में श्रम क़ानूनों के उल्लंघन, मज़दूरों की नारकीय गुलामी आदि मुद्दे नहीं आते। ग़रीबों के लिए इनके पास बस कुछ राहतों-रियायतों के टुकड़े हैं। इनकी पार्टीसिपेटरी डेमोक्रेसी" और "सिविल सोसायटी" का दायरा 75 करोड़ शहरी-देहाती सर्वहाराओं-अर्द्ध सर्वहाराओं के जीवन को यदि कहीं छूता भी है, तो 'माइक्रो क्रेडिट' के जरिए महाजनी करने तक जाता है, या फिर विदेशी फण्डिंग से कुछ सुधार कार्यक्रम चलाकर ग़रीबों को चायक बनाकर उनकी वर्ग चेतना को भ्रष्ट और कुन्द बनाने तक जाता है।

ये "सिविल सोसाइटी" वाले एक और काम करते हैं। पूँजीवादी राजनीति का विकल्प क्रांतिकारी जन राजनीति के रूप में प्रस्तुत करने के बजाय ये उसे ही राजनीति का एकमात्र रूप बताते हैं और उससे जनता में नफ़रत पैदा करते हुए सामाजिक आन्दोलनों के विकेन्द्रित समुच्चय के दबाव को ही हर मर्ज़ का इलाज बताते हैं। **इस प्रकार वे जनता की चेतना का ख़तरनाक ढंग से अराजनीतिकीकरण करते हैं और उसे इस ऐतिहासिक सच्चाई की समझ से दूर करते हैं कि क्रांतिकारी ढंग से राजनीतिक ढाँचे पर नियंत्रण करके (यानी पुराने को तोड़कर, नया क्रांतिकारी राजनीतिक ढाँचा बनाकर) ही शोषणकारी अन्यायपूर्ण आर्थिक-सामाजिक सम्बन्धों को बदला जा सकता है। दरसल, "सिविल सोसाइटी" के स्वयंभू प्रतिनिधि शोषित जनों की मुक्ति की कोई सांगोपांग परियोजना प्रस्तुत करने के बजाय महज इसी ढाँचे के भीतर गति-विमंदकों, तनाव-शैथिल्यकों, सुरक्षा-वाल्वों, निगरानी चौकियों और प्रहार-चूसक कुशनों की एक प्रणाली प्रस्तुत करते हैं क्योंकि पूंजीवादी लोकतन्त्र उनके लिए सार्विक, निरपेक्ष लोकतन्त्र का आदर्श ढाँचा है।** क्या आश्चर्य की ऐसे लोगों में करोड़पति वकील, पत्रकार, साधु-संत आदि शामिल हैं और इनका पुरजोर समर्थन टाटा, बजाज, गोदरेज, अजीम प्रेमजी, मैनेजमेण्ट गुरू अरिन्दम सेन और तमाम मुम्बइया करोड़पति अभिनेता आदि करते हैं!

आपके आन्दोलन के दूसरे भागीदार वे विचारहीन, अर्द्धफासिस्ट मानसिकता के चिकने चेहरे वाले युवा (बी.पी.ओ. और कारपोरेट सेक्टर के कर्मी, मैनेजमेण्ट-मीडिया-कम्प्यूटर साइंस-मेडिकल-इंजीनियरिंग आदि के छात्र) थे जो मँहगी कारों और बाइकों पर तिरंगा लहराते, 'लगान' या 'स्वदेश' के देशभक्ति के फिल्मी गाने गाते टी.वी. स्क्रीन पर देखे जा सकते थे। या उदारीकरण-निजीकरण के उन विचारहीन, मज़दूर-विरोधी मध्यवर्गीय युवाओं का मानवद्रोही चेहरा है, जो मानते हैं कि यदि भ्रष्टाचार नहीं होता तो भारत अमेरिका बन जाता और बेंगलूर-गुड़गाँव-हैदराबाद-पुणे में कई 'सिलिकन वैली' बन जाते। इन लोगों को आम ग़रीब आदमी की बदहाली का न तो कारण पता है, न ही उससे कोई मतलब है। यदि ग़रीब बदहाल हैं तो उसका कारण या तो उनकी काहिली है या भ्रष्टाचार। इनका मानना है कि पूँजीवादी प्रतिस्पर्द्धा तो प्रगति का मूल है, बस 'फेयर प्ले' होना चाहिए भ्रष्टाचार नहीं। इनका मानना है कि सबको बराबरी तो दी ही नहीं जा सकती। 'सर्वाइवल ऑफ दी फिटेस्ट' का ही सिद्धांत चलता है। यह आबादी गाँधी के सादगी के सिद्धान्त, आपकी गाँधी टोपी और रामदेव द्वारा विदेशी उपभोक्ता सामग्री के बहिष्कार के नारे में भी दिलचस्पी नहीं रखती। उसे बस भ्रष्टचार के खात्मे और काले धन की देश वापसी से पैदा होने वाले तरक्की के अवसरों की ललक है। उनकी कल्पना के "स्वर्गिक गणराज्य" से ग़रीब मेहनतकश उत्पादक समुदाय उसी तरह बहिष्कृत है जैसे रोमन गणराज्यों के नागरिक समुदाय से दास और किसान।

आपके आन्दोलन का तीसरा भागीदार शहरी निम्नवर्ग का एक मासूम, कूपमण्डूक परेशानहाल तबका भी था, जो कम तनख़्वाह, नगण्य बचत, कर्ज़, बेटे की बेरोजगारी, बेटी की शादी, भविष्य की अनिश्चितता आदि को लेकर परेशान रहता है। रोज़मर्रे के जीवन में उसका साबका भ्रष्टाचार से पड़ता है और मीडिया में घपलो-घोटालों-काले धन कमीशन-खोरी की खबरों के घटाटोप को पढ़ता रहता है। मेहनतकशों की ज़िन्दगी से फिर भी उसकी दूरी है, अलगाव है। उसकी मिथ्या चेतना सारी समस्याओं की जड़ राजनीतिक-प्रशासनिक भ्रष्टाचार में देखती है। उसकी जड़ों की तलाश वह पूरी व्यवस्था की कार्यप्रणाली में नहीं देख पाता। मुक्ति की किसी सांगोपांग परियोजना की उसकी समझ नहीं है। ऐसी बातों का प्रचार उस तक पहुँचता भी कम है। अपनी ज़िन्दगी से परेशान मसीहा की तलाश में वह शिरडी, पुट्टुपार्थी, हरिद्वार जाता है, पराभौतिक शक्तियों की शरण लेने वैष्णो देवी और बालाजी जाता है और उसे लगता है कि जन्तर-मन्तर पर कोई गाँधी प्रकट हुए हैं जिन्होंने भ्रष्टाचारियों को सबक सिखाने का बीड़ा उठा लिया है तो भावविभोर होकर वहाँ भी जा पहुँचता है।

●

अण्णाजी, आप तो गाँधीवादी हैं। आपको सिर्फ़ भ्रष्टाचार मिटाने और जन लोकपाल बनाने के बजाय मुहिम को उस मुकाम से आगे बढ़ाना चाहिए जहाँ गाँधी ने अपने अंतिम दिनों में छोड़ा था। आपको तो सवाल उठाना चाहिए कि *(i) किसी करोड़पति को भारत के लोगों का जनप्रतिनिधि होने का अधिकार होना ही नहीं चाहिए, (ii) जनप्रतिनिधियों और नौकरशाहों की तनख़्वाहें-सुविधाएँ एक औसत मध्यवर्गीय नागरिक के जीवन स्तर से अधिक होनी ही नहीं चाहिए, (iii) मंत्रियों-संसद सदस्यों-विधायको को राजधानियों के आलीशन बँगलों से बाहर आम ग़रीबों की बस्तियाँ में नहीं तो कम से कम मध्यवर्गीय कालोनियों के स्तर के आवास दिये जाने चाहिए और कुछ दिनों तक जनता के बीच उनका रहना और काम करना अनिवार्य होना चाहिए, (iv) नौकरशाही को हर स्तर पर जन निगरानी कमेटियों के नियंत्रण में काम करना चाहिए तथा टेण्डर-ठेका और प्रशासनिक निर्णय का हर काम सामूहिक, खुले और पारदर्शी तरीक़े से होना चाहिए (v) आवास, शिक्षा,*

(पेज 10 पर जारी)

विकास के नाम पर ग़रीबों को उजाड़ना बन्द करो!

— मज़दूर माँगपत्रक आन्दोलन

मज़दूर माँगपत्रक आन्दोलन को

(पेज 1 से आगे)

की लगातार भर्त्सना का जुबानी जमाखर्च करती हुई मज़दूर वर्ग के बीच या तो मौजूद ही नहीं हैं, या फिर अर्थवाद या अराजकतावादी संघाधिपत्यवाद की किसी न किसी किस्म की बानगी ही यहाँ-वहाँ पेश कर रही हैं। एक बड़ा हिस्सा (हालाँकि औद्योगिक मज़दूरों में भी यह कुछ रस्मी क़वायदें करता रहता है) "वामपन्थी" दुस्साहसवाद या आतंकवाद के रास्ते पर दूर जा चुका है। **जाहिर है कि आज की ऐतिहासिक परिस्थितियों को सैद्धान्तिक स्तर पर समझे बिना और अमली स्तर पर जाँचे-परखे बिना न तो मज़दूर आन्दोलन की व्यापक एकता क़ायम की जा सकती है, न ही मज़दूर क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन को पूरा करने में नेतृत्वकारी भूमिका निभाने वाली एक क्रान्तिकारी पार्टी का नवनिर्माण किया जा सकता है।**

इक्कीसवीं सदी में पूँजी और श्रम के बीच का संघर्ष एक नयी ज़मीन पर गति पकड़ने वाला है। आज की दुनिया एक सदी या आधी सदी पहले की दुनिया से काफ़ी हद तक भिन्न है। उपनिवेशवाद इतिहास के रंगमंच से विदा हो चुका है और सामंतवाद के अवशेष यदि कहीं हैं भी तो सुदूर कोने-अँतरों और हाशिए पर बिखरे पड़े हैं। पूँजी और श्रम की शक्तियाँ एकदम आमने-सामने खड़ी हैं और अतीत के छूटे हुए कार्यभारों और मिलावटों से मुक्त होकर भावी मज़दूर क्रान्तियों का पूँजी-विरोधी चरित्र एकदम साफ़ उभर रहा है। पर पुरानी जटिलताओं का स्थान नयी जटिलताओं ने ले लिया है। 'औपनिवेशिक साम्राज्य-विहीन साम्राज्यवाद' या भूमण्डलीकरण के इस दौर में, वित्तीय पूँजी के निर्बाध, तीव्र आवागमन के लिए राष्ट्र राज्यों की सीमाएँ काफ़ी कमज़ोर हो गयी हैं, लेकिन श्रम के वैश्विक आवागमन पर बंदिशें यथावत् हैं। पूँजी के शासन को बनाये रखने का सबसे प्रभावी औज़ार आज भी राष्ट्र राज्य ही हैं, साथ ही पूँजी के वर्चस्व के नये उपकरण, नये सामाजिक अवलम्ब और पूँजीवादी व्यवस्था की नयी सुरक्षा पंक्तियाँ (सिविल सोसायटी; अस्मितावादी राजनीति और एन.जी.ओ. आदि) भी पैदा हुई हैं। उत्पादन और संचय में हुई अकूत वृद्धि के बाद शेयर बाज़ार और मनोरंजन, मीडिया आदि अनुत्पादक क्षेत्रों में पूँजी निवेश तो बेहिसाब रफ़्तार बढ़ा ही है, उत्पादक श्रम शक्ति के दो तिहाई हिस्से तक को दुनिया की पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाएँ सेवा क्षेत्र में झोंक चुकी हैं और उनके सकल घरेलू उत्पाद का दो तिहाई भी इस कथित सेवा क्षेत्र से ही आता है। पूँजी के आन्तरिक पुनर्गठन ने मज़दूर वर्ग की संरचना भी काफ़ी हद तक बदल दी है। पूँजीवादी श्रम-विभाजन के अतिरिक्त जाति, जेण्डर, राष्ट्रीयता आदि रेखाओं के इर्दगिर्द तो वह पहले भी बँटा होता था, पर आज मज़दूर आबादी ज्यादा व्यापक और बहुपरती संस्तरों में बँटी हुई है। उन्नत तकनोलॉजी और संचार परिवहन के साधनों की मदद से ज्यादातर बड़े कारख़ानों की फोर्डिस्ट चलन की असेम्बली लाइन पर होने वाले उत्पादन को दूर-दूर बिखरे वर्कशॉपों में और यहाँ तक कि काण्ट्रैक्टरों-सब काण्ट्रैक्टरों के मज़दूरों और पीस रेट पर काम करने वाले मज़दूरों तक फैली श्रृंखला में विखण्डित कर दिया गया है। मज़दूरों की भारी आबादी ठेका, कैजुअल, अस्थायी, पीसरेट या पार्टटाइम मज़दूरों की बना दी गयी है। खेती और खेती आधारित ग्रामीण उद्यम मुख्यतः उजरती श्रम पर आधारित हैं, पर ग्रामीण मज़दूरों के लिए जो थोड़े से श्रम क़ानून और राजनीतिक हक़ काग़ज़ों पर मौजूद हैं उनका वास्तव में कोई अर्थ नहीं है। गाँवों और शहरों में छोटे माल-उत्पादकों की एक बड़ी आबादी वस्तुगत तौर पर मज़दूरों जैसी स्थिति में ही जी रही है।

इन तमाम बदलावों के मद्देनज़र, नयी मज़दूर क्रान्तियों की नीतियों-रणनीतियों व तौर-तरीकों में बदलाव आने लाज़िमी हैं। लोक-लुभावन लकीर की फकीरी नहीं चलेगी। लेकिन यह बात जितनी पहले सही थी, उतनी ही आज भी सही है कि मज़दूर वर्ग को बिखरे हुए आर्थिक संघर्षों से ऊपर साझा हितों के राजनीतिक संघर्ष की उन्नततर ज़मीन पर उठाना होगा, अलग-अलग मालिकों के बजाय उन्हें समूचे मालिक वर्ग से, उनकी हुकूमत से लड़ना सिखाना होगा।

राजनीतिक संघर्ष के बारे में आम प्रचार करते रहने और अर्थवाद-ट्रेडयूनियनवाद की आलोचना और भण्डाफोड़ करते रहने मात्र से मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी नेतृत्व की ज़िम्मेदारी पूरी नहीं हो जाती। **हमें राजनीतिक संघर्ष में उतरने की बात व्यवहार में बतानी होगी, अमल करके दिखानी होगी।**

'मज़दूर माँगपत्रक आन्दोलन–2011' का यही महत्व है। बेशक़ यह एक लम्बी यात्रा के लिए उठाया गया पहला छोटा क़दम है। यह एक छोटी-सी दिखने वाली शुरुआत हो सकती है, पर इसमें ऐतिहासिक सम्भावनाएँ छिपी हुई हैं।

जाहिर है कि यह मज़दूर माँगपत्रक मज़दूर क्रान्ति का कार्यक्रम नहीं है। इस बात में कोई सन्देह नहीं कि जबतक सर्वहारा वर्ग पूँजीवादी राज्यसत्ता को चकनाचूर करके सर्वहारा राज्यसत्ता की स्थापना नहीं कर लेगा और जब तक उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व को समाप्त करके सामूहिक उत्पादक को अधिशेष का सामूहिक हस्तगतकर्ता नहीं बना दिया जायेगा, तबतक पूँजीवादी शोषण का खात्मा सम्भव नहीं है। मज़दूर वर्ग का यही ऐतिहासिक मिशन है। कुछ थोड़े से उन्नत वर्ग चेतस मज़दूर ऐसे हो सकते हैं कि मज़दूर वर्ग के इस ऐतिहासिक मिशन को आम राजनीतिक प्रचार एवं शिक्षा की कार्रवाई के माध्यम से जल्दी ही समझ लें। लेकिन व्यापक मज़दूर आबादी बुर्जुआ राज्यसत्ता के विरुद्ध सीधे नहीं उठ खड़ी होगी। आर्थिक संघर्ष तो उसकी जीवन स्थितियों के दबाव से पैदा होते हैं। उस दौरान मज़दूर वर्ग एकजुटता की ताक़त पहचानता है और संगठित होकर लड़ना सीखता है। वर्ग-संघर्ष की इस प्राथमिक पाठशाला से बाहर निकलकर वह राजनीतिक संघर्ष के निम्नतर से उन्नततर धरातलों पर पहुँचने की लम्बी प्रक्रिया से गुजरता है। मज़दूर वर्ग जब अपने आम हितों को लेकर सरकार के सामने (जो वस्तुतः 'पूँजीपतियों की मैनेजिंग कमेटी' ही होती है) माँगें रखता है और आन्दोलन की राह पर उतरता है तो यह राजनीतिक संघर्ष होता है।

इसी मायने में **'मज़दूर माँगपत्रक आन्दोलन' एक नयी पहल है, एक महत्वपूर्ण शुरुआत है। इस आन्दोलन के माध्यम से शुरुआत यहाँ से की जा रही है कि जो श्रम क़ानून काग़ज़ों पर मौजूद हैं, उन्हें वास्तव में लागू करने के लिए सरकार पर मज़दूर शक्ति का दबाव बनाया जाये। इससे एक क़दम आगे बढ़कर, पूँजीवादी लोकतन्त्र (बुर्जुआ जनवाद) जो वायदे करता है, जिन मज़दूर अधिकारों-हितों की पूँजीवादी सिद्धान्तकार भी दुहाई देते रहते हैं, उन्हें पूरा करने वाले नये श्रम क़ानून बनाने और उनके अमल की गारण्टी के लिए दबाव बनाया जाये तथा मज़दूर-विरोधी क़ानूनों और समूची आम जनता के जनवादी अधिकारों का हनन करने वाले काले क़ानूनों को रद्द करने के लिए दबाव बनाया जाये। हर पूँजीवादी समाज में सर्वहारा वर्ग अर्द्ध-सर्वहारा जमातों और पूँजीवाद के हाथों तबाह होते छोटे माल-उत्पादकों और निम्न-मध्यवर्ग के लोगों से घिरा होता है। नयी संविधान सभा बुला कर जनवादी प्रक्रिया से नया संविधान बनाने की माँग, काले क़ानूनों को रद्द करने की माँग, नौकरशाही-नेताशाही और सैन्यतन्त्र के ख़र्चों को कम करने की माँग तथा जीवन की बुनियादी सुविधाओं (खाद्यान्न सुरक्षा, आवास, स्वास्थ्य-चिकित्सा, शिक्षा और रोजगार के अधिकार) को हर नागरिक का मूलभूत अधिकार और राज्य की ज़िम्मेदारी बनाने की माँग ऐसी राजनीतिक माँगें हैं, जो मज़दूर वर्ग के साथ सभी अर्द्ध-सर्वहारा जमातों और छोटे मिल्कियों को ला खड़ा करेंगी। 'मज़दूर माँगपत्रक'** मज़दूर वर्ग की सभी आम माँगों (काम के घण्टे, न्यूनतम मज़दूरी, ठेका मज़दूरी, काम की जगह एवं परिस्थितियों से जुड़ी माँगें, कार्यस्थल पर सुरक्षा प्रबन्ध और दुर्घटना के मुआवज़े से जुड़ी माँगें...आदि) के अतिरिक्त मज़दूरों के अलग-अलग हिस्सों की विशिष्ट माँगों को भी एक साथ सूत्रबद्ध करने की एक अहम कोशिश है। **जाहिर है कि यह एक राजनीतिक माँगपत्रक है पर इसका दायरा मुख्यतः बुर्जुआ जनवादी प्रकृति तक सीमित है। राजनीतिक संघर्ष के इसी धरातल से व्यापक मेहनतक़श आबादी की जागृति और एकजुटता की शुरुआत की जा सकती है। इसी प्रक्रिया में पूँजीवादी जनवाद की असलियत व्यवहार में बेनक़ाब की जा सकती है और उन्नततर धरातल के राजनीतिक संघर्ष की ज़मीन तैयार की जा सकती है।**

अधीर क्रान्तिकारी आत्माएँ पूछ सकती हैं कि मज़दूर वर्ग के राजनीतिक संघर्ष के लिए जनवादी अधिकारों की यह चौहद्दी क्यों, वह भी खास तौर पर तब, जब लक्ष्य समाजवादी क्रान्ति का हो! कुछ तो यह भी सवाल उठाने वाले मिले कि बुर्जुआ सरकार और संसद के सामने भला माँगपत्रक लेकर क्या जाना? यह तो क्रान्तिकारी कार्रवाई नहीं है! ऐसे लोगों की समझ लेनिन के हवाले से साफ़ करने की ज़रूरत है। लेनिन का कहना था कि बेशक़ बिना बैंकों पर कब्ज़ा किये, बिना उत्पादन-साधनों पर निजी मालिकाने को खत्म किये, पूँजीवाद को पराजित नहीं किया जा सकता, लेकिन जो सर्वहारा जनवाद के संघर्ष में शिक्षित नहीं होगा, वह आर्थिक क्रान्ति सम्पन्न करने में असमर्थ होगा। लेनिन का स्पष्ट विचार था कि बुर्जुआ वर्ग की सत्ता ध्वस्त करने की तैयारी की प्रक्रिया में सर्वहारा वर्ग को बुर्जुआ वर्ग द्वारा सृजित और विकृत की जाने वाली जनवादी संस्थाओं और पूँजीवाद द्वारा जनसाधारण में पैदा की गयी जनवादी आकांक्षाओं का भरपूर इस्तेमाल करना चाहिए। (विस्तार के लिए देखें, **लेनिनः** *'प.कीयेव्स्की को जवाब; 'मज़दूर आन्दोलन में जड़सूत्रवाद और संकीर्णतावाद का विरोध'* शीर्षक संकलन, पृ. 81-82, मास्को, 1986)।

'मज़दूर माँगपत्रक आन्दोलन 2011' का मक़सद देश के ज्यादा से ज्यादा मज़दूरों को यह बताना है कि आज किन राजनीतिक माँगों पर मज़दूर वर्ग का राजनीतिक संघर्ष नये सिरे से संगठित होगा और कहाँ से शुरुआत करके यह क़दम-ब-क़दम अपनी मंज़िल की ओर बढ़ेगा।

एक बात और यहाँ स्पष्ट करना बेहद ज़रूरी है। **'मज़दूर माँगपत्रक आन्दोलन' मज़दूर वर्ग के किसी राजनीतिक संगठन/पार्टी या किसी ट्रेड यूनियन या**

(पेज 9 पर जारी)

एक तूफ़ानी जनान्दोलन बनाओ!

यूनियनों-जनसंगठनों के संयुक्त मोर्चे के किसी बैनर तले संगठित नहीं किया गया है। बेशक ट्रेड यूनियन मोर्चे पर सक्रिय बहुत सारे संगठनकर्ताओं और राजनीतिक कार्यकर्ताओं की इसमें सक्रिय पहल और भूमिका है। 'मज़दूर बिगुल' से जुड़े कार्यकर्ताओं-प्रचारकों की भी इसमें भूमिका है। इन सभी ने मिलकर मज़दूरों के बीच प्रचार और आन्दोलन के अपने अनुभवों, व्यापक मज़दूर आबादी से हुई बातचीत, अध्ययन-मनन और विचार-विमर्श के बाद माँगपत्रक का यह मसौदा तैयार किया है और फिर संयोजन समिति बनाकर मज़दूरों के बीच इसका व्यापक प्रचार किया है तथा हस्ताक्षर जुटाये हैं। बेशक़ इस माँगपत्रक की बहुत सारी माँगें ट्रेड यूनियनों या उनके किसी संयुक्त मोर्चे के बैनर तले भी उठाई जा सकती हैं। पर माँगपत्रक आन्दोलन के मौजूदा स्वरूप के पीछे हमारी साझा सोच यह है कि मज़दूर वर्ग के इस राजनीतिक संघर्ष के एजेण्डे को सघन प्रचार करके व्यापक मज़दूर आबादी तक पहुँचाया जाये, उसकी सामूहिक पहलकदमी और निर्णय-क्षमता को जगाया जाये, इस प्रक्रिया में छोटी-छोटी मज़दूर पंचायतें की जायें और उनकी कड़ियों को जोड़ते हुए मज़दूर वर्ग के व्यापक जन-प्लेटफॉर्म निर्मित करने की कोशिश की जाये। ट्रेड यूनियन संघर्ष का क्रान्तिकारीकरण एक अलग मोर्चा है। 'मज़दूर बिगुल' जैसे राजनीतिक मज़दूर अख़बार के द्वारा मज़दूर वर्ग के ऐतिहासिक मिशन और मज़दूर क्रान्ति की विचारधारा का प्रचार-प्रसार करते हुए हरावल पार्टी के निर्माण की पूर्वपीठिका बनाना एक अलग काम है। पर इन दो कामों के साथ-साथ राजनीतिक संघर्ष में उतरने के लिए व्यापक मज़दूर वर्ग की सामूहिक पहलक़दमी और सक्रियता जगाने और उसकी चेतना के स्तरोन्नयन के लिए ऐसे व्यापक 'मास-प्लेटफार्मों' (जन मंचों) के गठन की प्रक्रिया भी जगह-जगह मज़दूर पंचायतों और फिर अपेक्षतया बड़े स्तरों पर कुछ महापंचायतों के आयोजन और पंचायती कमेटियों के चुनाव के द्वारा आगे बढ़ायी जानी चाहिए। ऐसा करना (कुछ क्रान्तिकारी अराजकतावादियों की तरह) यूनियन की भूमिका का निषेध करना नहीं है, बल्कि मेहनतक़श जनसमुदाय की सामूहिक पहलक़दमी, सामूहिक विवेक और सामूहिक निर्णय-क्षमता को जागृत करना है, जो राजनीतिक संघर्ष को व्यापक आधार देने के साथ ही ट्रेड यूनियन नौकरशाही पर भी सामूहिक जन-चौकसी की भूमिका निभायेगा) यह मज़दूर वर्ग की पार्टी की हरावल भूमिका का भी निषेध नहीं है, बल्कि (अमल में विचारधारा का प्राधिकार स्थापित करने के जरिए) उसे व्यापक और उच्चतर धरातल पर सक्रिय करने की ज़मीन तैयार करना है। यह मज़दूर वर्ग के संगठित जनदबाव की राजनीति को विकसित करने का, पूँजी और सत्ता के केन्द्रों के इर्दगिर्द जागृत-संगठित मेहनतक़श आबादी की जन घेरेबन्दी तैयार करने का एक सामाजिक प्रयोग है यह मज़दूर वर्ग के नये इंक़लाबी सत्याग्रह आन्दोलन का एक रूप है। इस प्रक्रिया में व्यापक मेहनतकश जनसमुदाय कई चक्रों से गुज़रते हुए संगठित होकर एक इस्पाती दुर्ग में ढल जायेगा। संगठित-शस्त्र सज्जित मालिक वर्गों की निरंकुश दमनकारी सत्ता भी उस जनसमुदाय को आतंकित नहीं कर पायेगी, उसका दमन नहीं कर पायेगी। इक्कीसवीं सदी की मज़दूर जन क्रान्तियाँ तभी सफल हो सकती हैं, जब वे सर्वहारा वर्ग और उसके आसपास बिखरे पूँजी की मार से त्रस्त सभी अर्द्ध-सर्वहाराओं और छोटे मिल्की वर्गों के बीच अपना व्यापक एवं सुदृढ़ सामाजिक आधार तैयार करें। इसके लिए ज़रूरी है कि मज़दूर वर्ग की हरावल पार्टी तैयार करने और ट्रेड यूनियन आन्दोलन के क्रान्तिकारीकरण के सतत् सघन प्रयासों के साथ-साथ मज़दूर वर्ग की सामूहिक पहल एवं सक्रियता जगाकर उन्हें मज़दूर पंचायतों जैसे व्यापक मंचों पर संगठित किया जाये। शुरू में ये प्रयास कुछ बिखरे हुए हो सकते हैं। ठहराव के अन्तराल भी आ सकते हैं। पर संघर्ष का हर दौर इन मंचों को अधिक सजग-सक्रिय-सुगठित बनायेगा और इन पंचायतों की सांगठनिक कमेटियों के रूप में मज़दूरों की नयी सामूहिक नेतृत्वकारी सम्भावनाएँ प्रकट हो सकती हैं। आगे के ठोस रूपों और ठोस विकास-प्रक्रिया की पूर्वकल्पना नहीं की जा सकती। हम किसी प्रयोग के तार्किक आधार और आम दिशा पर बात कर सकते हैं। आगे की चीज़ें अमल के दौरान तय होंगी।

हमारा ज़ोर इस बात पर भी नहीं है कि **मज़दूर माँगपत्रक आन्दोलन** सिर्फ़ मज़दूर पंचायतें गठित करते हुए ही आगे बढ़ाया जा सकता है। क्रान्तिकारी ट्रेड यूनियनों का कोई साझा मोर्चा या मज़दूर वर्ग का कोई क्रान्तिकारी हरावल संगठन इसी उद्देश्य से एक राजनीतिक मोर्चा/मंच बनाकर भी इस आन्दोलन को आगे बढ़ा सकता है। वही होगा, जैसा इस आन्दोलन के ज्यादातर संगठक सहभागी चाहेंगे। यदि ये वैकल्पिक रास्ते भी चुने जाते हैं तो **'मज़दूर बिगुल'** अपनी पूरी ताक़त से इस आन्दोलन के साथ होगा। मज़दूर **माँगपत्रक आन्दोलन** का मुख्य वाहक या मंच न बनने की स्थिति में भी तृणमूल स्तर से (मज़दूर बस्तियों और फैक्ट्रियों से) शुरू करते हुए शहरों, इलाकों, अंचलों के स्तर तक मज़दूरों की जन पंचायतों और उनका संचालन करने वाली समितियों का ढाँचा खड़ा करना होगा। यह रोज़मर्रे के जीवन में विविध प्रश्नों पर जनवादी ढंग से निर्णय लेने और सामूहिक ढंग से उन्हें लागू करने के प्रशिक्षण एवं तैयारी का एक मंच भी होगा तथा बुर्जुआ सत्ता के हमलों का बचाव एवं प्रतिकार करने वाला जनशक्ति का केन्द्र भी होगा। इसके स्वरूप को देखते हुए, हमें सबसे उचित यही लग रहा है कि 1 मई, 2011 के बाद देश के विभिन्न औद्योगिक इलाकों और ग्रामीण क्षेत्रों में व्यापक और सघन तैयारी करके मज़दूरों की पंचायतें बुलायी जाएँ, माँगपत्रक के मसलों पर देशव्यापी आन्दोलन खड़ा करने के सवाल पर उन्हें तैयार किया जाये, उनकी राय ली जाये और उनका निचोड़ निकालकर कार्य योजना को माँजा-तराशा जाये। मज़दूरों की पंचायतें क्रमश छोटे से बड़े स्तर पर बुलाई जाए और नीचे से ऊपर तक के प्रशासनतन्त्र पर जन दबाव बनाने का उन्हें एक प्रभावी माध्यम बना दिया जाये।

मज़दूर माँगपत्रक आन्दोलन 1 मई, 2011 को दिल्ली की दहलीज पर अपनी पहली दस्तक देगा, जब देश के विभिन्न हिस्सों से माँगपत्रक पर इकट्ठा किये गये मज़दूरों के हस्ताक्षरों को लेकर हज़ारों मज़दूर जन्तर-मन्तर पर इकट्ठा होंगे और फिर संसद की ओर मार्च करके यह माँगपत्रक सत्ता के प्रतिनिधियों को सौंपेंगे। यह एक प्रतीकात्मक कदम है। एक लम्बी यात्रा की छोटी-सी शुरुआत है। मुहिम यहीं खत्म नहीं हो रही है, बल्कि यहाँ से शुरू हो रही है। मज़दूरों की यह लहर दिल्ली से वापस लौट जायेगी। फिर देश के ज्यादा से ज्यादा हिस्से की शहरी और देहाती मज़दूर आबादी के बीच माँगपत्रक के मुद्दों पर सघन प्रचार किया जायेगा, छोटे-बड़े स्तर की पंचायतें बुलायी जायेंगी, उन्हें संगठित जन मंच का रूप देने की कोशिश की जायेगी। तीन वर्षों बाद करोड़ों हस्ताक्षरों के साथ लाखों मज़दूर दिल्ली के दरवाज़ों पर जब दस्तक देंगे तो बहरे सत्ताधारियों के कानों में वह आवाज़ एक प्रचण्ड धमाके की तरह सुनाई देगी।

निराश-हताश आत्माओं, मैदान छोड़ चुके लोगों, घोंसलावादी दुनियादारों और बुद्धिविलासियों को 'मज़दूर माँगपत्रक आन्दोलन' को मज़दूर वर्ग के व्यापक राजनीतिक आन्दोलन के रूप में विकसित करने की हमारी योजना बेशक़ सपना देखने जैसी या मंसूबा बाँधने जैसी लगेगी, दूर की कौड़ी लगेगी। पर हर नयी शुरुआत के लिए सपने देखने ही होंगे, मंसूबे तो बाँधने ही होंगे। शुरुआत करने और आगे बढ़ने से पहले तो हर लक्ष्य दूर की कौड़ी ही प्रतीत होता है।

इस वर्ष का मई दिवस 125वां मई दिवस है। सवा सौ वर्षों पहले शिकागो के मज़दूरों ने आठ घण्टे कार्यदिवस के लिए एक शानदार लड़ाई लड़ी थी। उस लड़ाई को ख़ून के दलदल में डुबो दिया गया, लेकिन 8 घण्टे के कार्यदिवस सहित राजनीतिक माँगों को लेकर लड़ने का सन्देश पूरी दुनिया में फैल चुका था। पूरी दुनिया की बुर्जुआ सरकारों को मज़दूरों के कई राजनीतिक अधिकारों को स्वीकार करना पड़ा। मज़दूर वर्ग के राजनीतिक संघर्षों ने बीसवीं शताब्दी की सर्वहारा क्रान्तियों की विजय-यात्रा में अहम् भूमिका निभाई। मई दिवस मज़दूर वर्ग के राजनीतिक चेतना के युग में प्रवेश करने का प्रतीक चिह्न बन गया।

इक्कीसवीं सदी में पूँजी और श्रम की शक्तियों के बीच निर्णायक युद्ध होना ही है। मेहनतक़शों के सामने नारकीय गुलामी, अपमान और बेबसी की ज़िन्दगी से निज़ात पाने का मात्र यही एक रास्ता है। गुज़रे दिनों की पस्ती-मायूसी भूलकर और पिछली हारों से ज़रूरी सबक लेकर एक नयी लड़ाई शुरू करनी होगी और जीत का भविष्य अपने हाथों गढ़ना होगा। शुरुआत पूँजीवादी हुकूमत के सामने अपनी सभी राजनीतिक माँगों को चार्टर के रूप में रखने से होगी। मज़दूरों को भितरघातियों, नकली मज़दूर नेताओं और मौक़ापरस्तों से होशियार रहना होगा। रस्मी लड़ाइयों से दूर रहना होगा। मेहनतक़श की मुक्ति स्वयं मेहनतक़श का काम है।

मज़दूर वर्ग की राजनीतिक लड़ाई की नयी शुरुआत के लिए 125वें मई दिवस से अधिक उचित मौक़ा भला और क्या हो सकता है? मई दिवस के महान शहीदों को याद करने और क्रान्तिकारी श्रद्धांजलि देने का भला इससे बेहतर तरीक़ा और क्या हो सकता है? मज़दूर साथियो, आगे बढ़ो, 'मज़दूर माँगपत्रक आन्दोलन-2011' के जरिए अपने राजनीतिक संघर्ष को नये सिरे से, नयी ज़मीन पर संगठित करने की शुरुआत करके 125वें मई दिवस को एक यादगार बना दो!

एकजुट मज़दूर वर्ग ने अपनी मुक्ति की लड़ाई ख़ुद लड़ने की तैयारी शुरू कर दी है। दलालो, भितरघातियो, गद्दारो, भगोड़ो, सावधान! मेहनतक़शों को बाँटना, बरगलाना, भरमाना बन्द करो। किनारे हट जाओ! मज़दूर एकता का बुलडोज़र सभी तिलचट्टों-कनखजूरों-गुबरैलों को रौंद डालेगा!

उठो जागो, गाओ गान
उठाओ आँधी
खड़ा करो तूफ़ान
नई सुबह की सुर्ख किरण में
झिलमिल कर लो प्राण

– जोस दि दियागो
(प्वेर्तो रिको के क्रान्तिकारी कवि)

संघर्ष के रूपों के प्रश्न पर मार्क्सवादी नज़रिया

● लेनिन

...संघर्ष के रूपों के प्रश्न के विवेचन से हर मार्क्सवादी को क्या बुनियादी अपेक्षाएं करनी चाहिए? पहली चीज़, मार्क्सवाद समाजवाद के तमाम अपरिष्कृत रूपों से इस बात में भिन्न है कि वह आन्दोलन को संघर्ष के किसी एक विशेष रूप के साथ नहीं बांधता। वह संघर्ष के सर्वथा विविध रूपों को मान्यता देता है, इसके अलावा वह उन्हें "गढ़ता" नहीं, बल्कि मात्र क्रान्तिकारी वर्गों के संघर्ष के उन रूपों का सामान्यीकरण करता है, उन्हें संगठित करता है तथा उन्हें सचेतन अभिव्यक्ति देता है, जो आन्दोलन के दौरान स्वयं जन्म लेते हैं। समस्त अमूर्त फ़ार्मूलों और समस्त मताग्रहवादी नुस्ख़ों का असंदिग्ध शत्रु मार्क्सवाद चल रहे उस जन-संघर्ष की की ओर सावधानीभरा रुख़ अपनाने की अपेक्षा करता है, जो आन्दोलन के विकसित होने के साथ, जन-साधारण की वर्ग चेतना की वृद्धि के साथ, आर्थिक तथा राजनीतिक संकटों के तीक्ष्ण होने के साथ बचाव और धावे की नयी तथा अधिक विविध विधियों को जन्म देता है। इसलिए, मार्क्सवाद संघर्ष के केवल संबद्ध घड़ी में संभव तथा विद्यमान रूपों तक अपने को किसी भी सूरत में सीमित नहीं रखता, यह तो इसे मान्यता देता है कि संघर्ष के नये रूप, जो संबद्ध कालावधि में कार्यकर्ताओं के लिए अज्ञात होते हैं, संबद्ध सामाजिक परिस्थिति में परिवर्तन के साथ अनिवार्यतः उत्पन्न होते हैं। इस मामले में मार्क्सवाद जन-साधारण के अमल से सीखता है - अगर ऐसा कहना संभव हो - और अपने बन्द अध्ययनकक्षों में "व्यवस्थापनकर्ताओं" द्वारा गढ़े गए संघर्ष के रूप जन-साधारण को सिखाने का दावा करने से वह कोसों दूर रहता है। हम जानते हैं - उदाहरण के लिए, काउत्स्की ने सामाजिक क्रान्ति के रूपों पर विचार करते समय कहा था — कि आनेवाला संकट हमारे सामने संघर्ष के ऐसे नये रूप प्रस्तुत करेगा, जिनका हम इस समय पूर्वानुमान नहीं कर सकते।

दूसरी चीज़, मार्क्सवाद संघर्ष के रूपों के प्रश्न पर बिल्कुल ऐतिहासिक ढंग से विचार करने की अपेक्षा करता है। इस प्रश्न को ठोस ऐतिहासिक स्थिति से बाहर रहने का अर्थ द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के ककहरे को नहीं समझना है। आर्थिक विकासक्रम की विभिन्न अवधियों में, राजनीतिक, जातीय, सांस्कृतिक अवस्थाओं, जीवन-यापन, आदि की अवस्थाओं में अन्तरों के अनुसार संघर्ष के विभिन्न रूप उभरकर सामने आते हैं, संघर्ष के प्रमुख रूप बन जाते हैं और इस सिलसिले में संघर्ष के द्वितीयक, आनुषंगिक रूप अपनी बारी में परिवर्तन के बीच से गुज़रते हैं। संबद्ध आन्दोलन के विकास की संबद्ध मंज़िल में इस आन्दोलन की ठोस स्थिति पर विस्तार-पूर्वक विचार किए बिना संघर्ष के किसी ख़ास साधन के बारे में हां या ना में उत्तर देने की कोशिश का अर्थ मार्क्सवादी स्थिति को पूर्ण तिलांजलि देना है।

ये हैं दो आधारपूत सैद्धान्तिक प्रस्थापनाएं, जिनसे हमें निदेशित होना चाहिए। परिचम यूरोप में मार्क्सवाद का इतिहास का अंत हमें अनंत उदाहरण देता है, जो उस बयान में की गई बात की पुष्टि करते हैं।

'छापामार युद्ध' लेख के अंश यह शीर्षक हमारे द्वारा दिया गया है। la-

('प्रोलेतारी', अंक 5, 30 सितम्बर, 1906, व्ला.इ. लेनिन, संग्रहीत रचनाएँ, पाँचवा रूसी संस्करण, खण्ड 14, पृष्ठ 1-2)

अण्णा हज़ारे जी के नाम कुछ मज़दूर कार्यकर्ताओं की खुली चिट्ठी

स्वास्थ्य, सड़क आदि सभी काम सरकारी विभागों द्वारा होना चाहिए और इसमें ठेका-पट्टी या निजी क्षेत्र का कोई स्थान नहीं होना चाहिए और (vi) कारों का उत्पादन बंद करके सार्वजनिक परिवहन को दुरुस्त किया जाना चाहिए, विलासिता की सभी सामग्रियों का उत्पादन, माल, मल्टीप्लेक्स, लग्ज़री रिसॉर्ट का निर्माण तबतक बंद कर देना चाहिए जबतक समूची जनता की बुनियादी ज़रूरतें पूरी नहीं हो जातीं। (vii) 'समान शिक्षा सबको रोजगार' अनिवार्यतः लागू होना चाहिए...आदि आदि।

अण्णाजी, यहाँ हम कोई समाजवाद का कार्यक्रम अपनाने की राय आपको नहीं दे रहे हैं। पर आज के समय में एक सच्चे गाँधीवादी का भी यही काम बनता है। क्या सरकार ने श्रम क़ानूनों के रूप में (चाहे वे जितने भी लचर हों) मज़दूरों से काग़ज़ों पर जो वायदे-क़रार किये हैं उन्हें लागू करने के लिए जनजागरण करना और सत्याग्रह करना आपके गाँधीवादी-मानवतावादी आदर्शों के सर्वथा अनुकूल नहीं है? दुनिया के सबसे अधिक बेघरों, कुपोषितों, बाल मृत्यु दर और जीवन के बुनियादी सुविधाओं से वंचित लोगों के इस देश के सत्ताधारी इसी जनता से निचोड़े गये धन से इतने हथियार खरीदते हैं कि आज भारत सबसे बड़ा हथियार-आयातक देश बन गया है। एक गाँधीवादी शान्तिवादी को इन मुद्दों पर भी पुरज़ोर आवाज़ उठानी चाहिए।

यह स्पष्ट कर दें कि इन सभी मुद्दों पर जनांदोलन संगठित करने से एक बेहतर समाज का विकल्प सामने नहीं आ जाएगा। पर इन अपेक्षतया अधिक बुनियादी मुद्दों पर, "सिविल सोसाइटी" के भद्रजनों की घेरेबंदी से बाहर आकर कोई भी व्यक्ति (गाँधी अपनी तमाम राजनीतिक-सामाजिक यूटोपिया के बावजूद, भद्रजनों की चौहद्दी से बाहर आम जनों के आन्दोलन संगठित करने में विश्वास रखने वाले एक आन्दोलनधर्मी बुर्जुआ मानवतावादी थे) यदि आप जनता को जागृत और संगठित करेंगे तो व्यवहार उसे सुधारवादी यूटोपिया से बाहर समतामूलक समाज के निर्माण और मानवमुक्ति की ऐतिहासिक तर्कसंगत परियोजना तक पहुँचाने में सहायता करेगा, बशर्ते कि वह स्वयं को शासक वर्गीय पूर्वाग्रहों से मुक्त कर ले।

●

अण्णाजी, हमारी तो स्पष्ट धारणा है कि डालियां काटने के बजाय अन्याय-शोषण-अनाचार भ्रष्टाचार के वटवृक्ष की जड़ों पर चोट होनी चाहिए। गंदी नालियाँ ढँकते रहने के बजाय उनके उद्गम को ही बंद किया जाना चाहिए। यह तबतक नहीं हो सकता जब तक ऐसी जन-प्रातिनिधिक राजनीतिक प्रणाली (नीचे से ऊपर तक पिरामिडीय ढाँचे वाली) नहीं बनेगी, जिसमें केन्द्रीकृत विकेन्द्रण और विकेन्द्रित केन्द्रीकरण हो, जिसमें उत्पाद, राजकाज, समाज-विषयक फैसले लेने की ताक़त व्यापक आम जनता के हाथों में हो, जिसमें नौकरशाही की भूमिका जन समूह के मातहत और अतिसीमित हो, जिसमें जुनावों में पैसे की भूमिका हो ही नहीं।

ऐसा राजनीतिक-प्रशासनिक ढाँचा तभी बन सकता है जब सामूहिक उत्पादकों को अधिशेष का सामूहिक हस्तगतकर्ता बनकर पूंजीवादी शोषण का ही खात्मा कर दिया जाये। इसकी शुरुआत सभी देशी-विदेशी पूंजीपतियों की पूंजी और कारखानों को ज़ब्त करके, सभी विदेशी कर्ज़ों को मंसूख करके तथा सभी पूंजीवादी फर्मों को सामूहिकीकरण-राजकीयकरण करके ही की जा सकती है। केवाल ऐसे ही समाज में सभी बुनियादी ज़रूरतें पूरी की जा सकती हैं, हर हाथ को काम दिया जा सकता है, सभी उत्पादक नागरिकों की सक्रिय राजनीति की प्रणाली बनायी जा सकती है और फिर सतत् सांस्कृतिक क्रांति चलाकर सदियों से जाति-जेण्डर-नस्ल-धर्म-राष्ट्रीयता आदि पर क़ायम असमानताओं-उत्पीड़नों का उन्मूलन किया जा सकता है।

...अण्णाजी, आप तो एक लोकतांत्रिक प्रकृति के व्यक्ति हैं। हम कहीं भी, खुले मंच पर, अपने दृष्टिकोण को लेकर हफ़्तों तक बैठकर खुली बहस करने को तैयार हैं। यदि हमारी समझ में कुछ कमी और खोट है, तो खुले मन से हम उन्हें स्वीकरने को भी तैयार हैं।

फुटकल शंकाएँ तो हमारी और भी हैं जो बहुतेरी हैं और गम्भीर भी हैं। चाहे जिस भाषा और जिन परिस्थितियों में भी आपने गुजरात में "ग्राम विकास" के कामों के लिए नरेन्द्र मोदी की प्रशंसा की, वह "हिन्दुत्व की प्रयोगशाला" और 2002 के मुस्लिम नरसंहार के फासिस्ट योजनाकर को एक नैतिक मान्यता प्रदान करता है। नरेन्द्र मोदी का पूंजी निवेश का आर्थिक प्रोजेक्ट भी उनके सामाजिक प्रोजेक्ट की ही भाँति एक फासिस्ट प्रोजेक्ट है। इसके लिए हमें इटली, जर्मनी, स्पेन, पुर्तगाल के फासिस्ट आर्थक प्रयोगों का अधयन करना होगा। व्यापारियों, शहरी मध्यवर्ग और वित्तीय महाप्रभुओं का समर्थन हासिल करने के बाद नरेन्द्र मोदी ने ग्राम विकास योजनाओं के जरिए वहां के कुलकों-फार्मरों में उनका सामाजिक आधार मजबूत किया है। गुजरात के गाँव के दलितों, आदिवासियों, मुसलमानों की दुरवस्था पर कई ज़मीनी रिपोर्टें आ चुकी हैं। इसी तरह बिहार की नीतीश कुमार सरकार के कामों और भ्रष्टाचार-विरोधी मुहिम की भी आपने बड़ाई की। नीतीश कुमार के नेतृत्व वाली जद (एकी)-भाजपा सरकार ने रंगदारी पर नियंत्रण करके, प्राशासनिक तन्त्र भी कुछ झाड़पोंछ करके, बस पूंजी निवेश की कुछ अनुकूल परिस्थितियाँ बनाई हैं। आपकी इन टिप्पिणियों से यह शंका पुष्ट होती है कि आप भी बस मौजूदा व्यवस्था की कुछ साफ-सफाई, झाड़पोंछ और रंगरोगन ही चाहते हैं। **हमें आश्चर्य तो यह होता है कि गोधरा के बाद, गुजरात में जब मुसलमानों का सरकार-प्रायोजित बर्बर नरसंहार हो रहा था तो आपके मन में एक गाँधीवादी होने के नाते (गाँधी की नोआखाली और कलकत्ता यात्र की तर्ज़ पर) गुजरात की पदयात्रा तक का विचार भी क्यों नहीं आया। हमारे मन में सवाल उठता है कि जिसतरह देशी-विदशी पूंजीपतियों द्वारा मज़दूरों और कच्चे माल की लूट पर, श्रम क़ानूनों के माख़ौल पर और सरकार की नवउदारवादी नीतियों पर आपका कोई स्पष्ट स्टैण्ड नहीं आता, उसी प्रकार आर.एस.एस भाजपा की रजनीति पर भी आपका कोई दो टूक स्टैण्ड कभी सुनने को नहीं मिला। ये अलग-अलग बातें नहीं हैं। अर्थनीति और राजनीति के आम एवं व्यापक सवालों पर स्पष्ट नज़रिया अपनाये बिना, टुकड़े-टकड़े में भ्रष्टाचार मुक्ति, ग्राम स्वराज, चुनाव प्रणाली में सुधार जैसी कुछ बातें करना और कुछ ऐसे काम करना जनता को दिग्भ्रमित करता है। क्षमा करें, इस मायने में तो आप एक सुसंगत गाँधीवादी भी नहीं हैं।**

जन्तर-मंतर पर आपके मंच पर "सिविल सोसाइटी" के प्रबुद्ध भद्रजनों की उपस्थिति के साथ-साथ चाक्षुष धार्मिक प्रतीकों की जितनी भरमार थी, प्रच्छन्न धार्मिक, अंधराष्ट्रवादी नारों का जैसा शोर था और आसपास हवन-यज्ञ जैसे जो अनुष्ठान हो रहे थे, उनको देखकर भी किसी सेक्युलर नागरिक या किसी धार्मिक अल्पसंख्यक समुदाय के नागरिक के दिलो-दिमाग़ में सवाल उठना और अलगाव महसूस करना स्वाभाविक है।

बहरहाल, इस किस्म के सवाल तो कई हैं। **कोई भी सुधारवादी यूटोपिया जब अतिशय परम्परावादी और अतीतोन्मुख होता है तो धार्मिक रूढ़िवादियों, कट्टरपंथियों से उसका सहज नैकट्य बनने लगता है और कालांतर में उस यूटोपिया का प्रतिक्रियावादी पहलू तेजी से प्रबल होने लगता है।**

फुटकल शंकाएँ और सवाल तो और भी कई हैं। पर इस पत्र में हमने अपने मूल प्रश्नों, मूल आपत्तियों और मूल विचारों को संक्षेप में रख दिया है। पत्र लम्बा हो गया है, इसके लिए क्षमा करेंगे। कृपया इसे पढ़ने और उत्तर देने का समय अवश्य निकालियेगा। यदि अलग से या किसी खुले मंच पर संवाद या बहस के लिए आप हमें बुलायें या हमारे आमंत्रण पर इसके लिए समय निकालें तो हमें हार्दिक प्रसन्नता होगी।

— सादर, साभिवादन,

दिल्ली, पंजाब और उत्तर प्रदेश के कुछ मज़दूर कार्यकर्ता

सम्पर्क: मार्फत 'मज़दूर बिगुल'
69 ए-1, बाबा का पुरवा
पेपर मिल रोड, निशातगंज
लखनऊ-226006

अगर हम नहीं लड़ते
अगर हम लड़ते नहीं जाते
तो दुश्मन
अपनी संगीनों से
हमें ख़त्म कर देगा
और फिर
हमारी हड्डियों की ओर
इशारा करके कहेगा
देखो,
ये गुलामों की हड्डियां हैं
गुलामों की!

कैसा है यह लोकतन्त्र और यह संविधान किनकी सेवा करता है? (नवीं किस्त)

आलोक रंजन

इस धारावाहिक लेख की चौथी किस्त 'नयी समाजवादी क्रान्ति का उद्‌घोषक बिगुल' अख़बार के अन्तिम अंक (जून, 2010) में प्रकाशित हुई थी। उसी अख़बार के उत्तराधिकारी के रूप में नवम्बर 2010 में जब 'मज़दूर बिगुल' का प्रकाशन शुरू हुआ तो प्रवेशांक में कुछ अपरिहार्य कारणों से इस लेख की अगली किस्त नहीं दी जा सकी। दिसम्बर 2010 अंक से पुन: इस धारावाहिक लेख का प्रकाशन शुरू किया गया है। – सम्पादक

संविधान की प्रस्तावना : लोक-लुभावन लफ़्फ़ाज़ी के साथ रचा गया प्रपंच

*"**हम**, भारत के लोग भारत को एक*
***सम्प्रभुता-सम्पन्न समाजवादी धर्मनिरपेक्ष जनवादी गणराज्य** बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को :*
*सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक **न्याय**,*
विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म
*और उपासना की **स्वतन्त्रता**,*
*प्रतिष्ठा और अवसर की **समता***
प्राप्त कराने के लिए,
तथा उन सबमें
*व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता और अखण्डता सुनिश्चित करने वाली **बन्धुता***
बढ़ाने के लिए
*दृढ़संकल्प होकर **अपनी इस संविधान सभा में** आज तारीख़ 26 नवम्बर 1949 ई. को*
एतद्‌द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।"

भारतीय संविधान अपनी प्रस्तावना में इन महत् उद्देश्यों की बड़बोली घोषणा करते हुए शुरू होता है। देश के 15 प्रतिशत अभिजातों की नुमाइन्दगी करने वाली संविधान सभा के सदस्यों ने पूरे भारत की जनता की ओर से यह घोषणा की। यहाँ यह उल्लेख भी ज़रूरी है कि मूल प्रस्तावना में भारत को सिर्फ़ "सम्प्रभुता सम्पन्न जनवादी गणराज्य" (सॉवरेन डेमोक्रेटिक रिपब्लिक) ही लिखा गया था। "समाजवादी" और "धर्मनिरपेक्ष" शब्द 1976 में आपातकाल के दौरान बयालीसवें संशोधन द्वारा जोड़े गये थे। इस संशोधन का विडम्बनापूर्ण समय भी उल्लेखनीय था। उस समय इन्दिरा गाँधी की सरकार ने देश में आपातकाल लागू करके रही-सही नागरिक आज़ादी और जनवादी अधिकारों को भी समाप्त कर दिया था। नेहरूवादी "समाजवाद" की नीतियों को फासिस्ट निरंकुशता की इस विडम्बनापूर्ण परिणति तक पहुँचना ही था। उस आपातकाल की समाप्ति के बाद पुराने दक्षिणपन्थी कांग्रेसी और नेहरूपन्थी "समाजवाद" के धुर-विरोधी मोरारजी देसाई के नेतृत्व में जो पहली गैर-कांग्रेसी सरकार केन्द्र में अस्तित्व में आयी, जनता पार्टी सरकार की उस खिचड़ी में सबसे बड़ा और संगठित धड़ा आर.एस.एस. प्रवर्तित जनसंघ था जो "समाजवाद" ही नहीं, सीमित बुर्जुआ धर्मनिरपेक्षता का भी धुर-विरोधी था। बयालीसवें संविधान संशोधन द्वारा ही 'राष्ट्र की एकता' के स्थान पर 'राष्ट्र की एकता और अखण्डता' शब्दावली रख दी गयी थी। यह बदलाव भी तत्कालीन इन्दिरा निरंकुशशाही के अतिकेन्द्रीकृत सत्ता और एकता-अखण्डता की रक्षा के नाम पर हर विरोध को कुचल देने की इच्छा और ज़रूरत को ही रेखांकित करता था।

"हम भारत के लोग" यह हूबहू वही जुमला था जिससे 1787 के फिलाडेल्फिया कन्वेंशन ने अमेरिकी संविधान की शुरुआत की थी – "हम संयुक्त राज्य के लोग"...! वैसे देखें तो अमेरिकी संविधान की प्रस्तावना की यह शब्दावली भी एक धोखाधड़ी थी! फिलाडेल्फिया कन्वेंशन न तो अश्वेत दासों का प्रतिनिधित्व करता था, न ही अमेरिकी संविधान ने दासता का उन्मूलन किया था। भारतीय संविधान सभा भी बहुसंख्य जनसमुदाय का प्रतिनिधित्व नहीं करती थी और आगे चलकर भी उस संविधान को भारत के लोगों के चुने हुए प्रतिनिधियों के किसी निकाय द्वारा पारित नहीं किया गया। भारतीय बुर्जुआ जनवाद के कुछ उत्साही पैरोकार दावा करते हैं कि किसी भी पश्चिमी देश ने अपने जनवाद के उद्‌भव के समय स्त्रियों को मताधिकार नहीं दिया, जबकि भारतीय संविधान ने ऐसा किया। ऐसे लोग ज़मीनी हक़ीक़त पर काग़ज़ी घोषणाओं को प्राथमिकता देते हैं। ज़मीनी सच्चाई यह है कि हमारे समाज के ताने-बाने में स्त्रियों की जो स्थिति बनती है, उसमें चुनने और चुने जाने का अधिकार मिलने के छह दशक बाद भी निजी, सामाजिक और राजनीतिक मामलों में उनकी निर्णय की स्वतन्त्रता का 'स्पेस' अत्यन्त संकुचित है तथा उनकी नागरिकता दोयम दरजे की है। पश्चिमी बुर्जुआ जनवादी देशों में स्त्रियों को जब मताधिकार नहीं मिला था, तब भी दोयम दरजे की नागरिकता और पुरुष वर्चस्ववाद के बावजूद निजी और सामाजिक मामलों में उनकी स्थिति भारतीय स्त्रियों से बेहतर थी। एक और दावा यह भी किया जाता है कि भारतीय संविधान ने अस्पृश्यता का उन्मूलन करके सामाजिक समावेशन और दलित जातियों की प्रगति की राह खोल दी। ग़ौरतलब है कि इस मामले में भारतीय संविधान और लोकतन्त्र (जनवाद) की विफलता को तो पाँच-छह वर्ष बीतते-बीतते डॉ. अम्बेडकर भी स्वीकार कर चुके थे। आरक्षण जैसे प्रावधानों ने भी बहुसंख्यक दलितों को समाज के सबसे निचले पायदान से और उजरती गुलामों की सबसे अपमानित पाँत से ऊपर उठाने के बजाय उनके बीच से एक छोटी-सी जमात को आर्थिक रूप से बेहतर जीवन दे दिया है (हालाँकि सामाजिक अपमान और पार्थक्य का सामना उन्हें भी करना पड़ता है)। भारतीय पूँजीवाद यदि "उपनिवेशीकरण और क्रमिक-विलम्बित विकास" की ऐतिहासिक प्रक्रिया के बजाय "पुनर्जागरण/धर्मसुधार-प्रबोधन-बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति" की स्वाभाविक प्रक्रिया से विकसित हुआ होता तो पूँजीवादी शोषण-उत्पीड़न के बावजूद यहाँ स्त्रियों और दलितों की बेहतर सामाजिक स्थिति होती और उन्हें वास्तव में सापेक्षत: अधिक जनवादी अधिकार हासिल होते, चाहे संविधान की किताब में उनका उल्लेख होता या नहीं। औपनिवेशिक शासन-विधान (1935 के क़ानून) की निरन्तरता में और उसकी मूल अन्तर्वस्तु को अपनाकर बनाया गया भारत का संविधान जनवादी आदर्शों की चाहे जितनी लफ़्फ़ाज़ी करे, उनके अमल को सुनिश्चित करने का कोई ठोस प्रावधान नहीं करता। रही-सही कोर-कसर औपनिवेशिक क़ानूनी ढाँचा और निरंकुश नौकरशाही ढाँचा पूरी कर देता है। यूरोप और अमेरिका की पूँजीवादी जनवादी क्रान्तियों के बाद सत्तारूढ़ बुर्जुआ वर्ग ने जनाकांक्षाओं के साथ विश्वासघात किया और जनमुक्ति के परचम को धूल में फेंक दिया। फिर भी क्रान्तियों की लहर ने जनजीवन में जो वैचारिक-सामाजिक-सांस्कृतिक उद्वेलन पैदा किया था, उससे जनता के भीतर नागरिक आज़ादी और जनवादी अधिकारों की जो सजगता पैदा हुई थी, उसे शासक वर्ग पूरी तरह से दबा नहीं सकता था। यह स्थिति एक हद तक उन देशों के संविधानों में भी परावर्तित और अभिव्यक्त होती है। भारत में जिस प्रकार पूँजीवादी विकास क्रान्तिकारी प्रक्रिया से न होकर क्रमिक प्रक्रिया से हुआ, "नीचे से" न होकर "ऊपर से" हुआ, नैसर्गिक गति के बजाय, विकृत-विलम्बित गति से हुआ, उसी प्रकार संविधान भी ऊपर से लादा गया, जो उत्तरऔपनिवेशिक भारत की वास्तविक सामाजिक स्थिति को परावर्तित करने के बजाय भारतीय पूँजीपति वर्ग की वास्तविक स्थिति, विवशताओं, ऐतिहासिक सीमाओं और उनसे पैदा हुई धूर्तताओं को अभिव्यक्ति देता था। बेशक पिछले छह दशकों के दौरान स्त्रियों और दलितों की सामाजिक-राजनीतिक स्थिति में कुछ सुधार हुए हैं, पर क्रमिक विकास से इतना बदलाव तो इतिहास-विकास की स्वाभाविक गतिकी है। इतना बदलाव तो किसी भी पूँजीवादी सत्ता को टिकाऊ बनाने के लिए ज़रूरी होता है। निरंकुश सर्वसत्तावादी बुर्जुआ शासन टिकाऊ नहीं हो सकता। सीमित से सीमित बुर्जुआ जनवादी अधिकार देने वाली पूँजीवादी सत्ता भी शोषित-उत्पीड़ित जनसमुदाय के ऊपर अपना राजनीतिक-वैचारिक वर्चस्व (अपने शासन के लिए सहमति प्राप्त करने के लिए) स्थापित करने के लिए कुछ जनवादी सुधारों और अपने "मानवीय चेहरे" का दिखावा करती रहती है तथा शोषित जनसमुदाय के कुछ अग्रणी एवं मुखर लोगों को व्यवस्था में सहयोजित (को-ऑप्ट) करके अपने सामाजिक अवलम्बों-आधारों का विस्तार करती रहती है। पूर्ववर्ती शासक वर्गों के वर्ग-अधिनायकत्व के मुकाबले इसी मायने में पूँजीपति वर्ग के वर्ग-अधिनायकत्व (उसकी राज्य सत्ता) के चरित्र की एक बुनियादी भिन्नता होती है। हर किस्म का पूँजीवादी जनवाद पूँजीपति वर्ग का बहुसंख्यक जनसमुदाय पर स्थापित वर्ग-अधिनायकत्व होता है, पर देश-विशेष का पूँजीपति वर्ग शासित जनता को कितने जनवादी अधिकार देता है, यह इस पर निर्भर करता है कि उक्त देश में पूँजीवादी विकास की ऐतिहासिक प्रक्रिया कैसी रही है, वहाँ उत्पादक शक्तियों के विकास का स्तर कितना उन्नत है, नीचे से संगठित किसी रैडिकल सामाजिक बदलाव से निर्बन्ध होने वाली जनता की चेतना और आकांक्षा को नियंत्रित कर पाने में शासक वर्ग कितना सक्षम है, पूँजीवादी व्यवस्था के संकटों को झेल पाने में वह कितना सक्षम है तथा विश्व-पूँजीवाद के चौधरियों (साम्राज्यवादियों) के अधीन उसकी मातहती कितनी कम या ज़्यादा है! आगे जब हम 'सम्प्रभुता' की चर्चा करेंगे तो यह आख़िरी वाली बात और अधिक स्पष्ट हो जायेगी। भारतीय पूँजीपति वर्ग न तो साम्राज्यवादी विश्व से निर्णायक विच्छेद कर सकता था, न ही किसी रैडिकल भूमि क्रान्ति (नीचे से भूमि क्रान्ति) से निर्बन्ध हुई जन ऊर्जा के आवेग को सँभाल सकता था, इसीलिए स्वाभाविक था कि वह जनता को सीमित जनवाद ही दे सकता था। लेकिन क्रमिक विकास से सामाजिक स्थितियों और चेतना में कुछ बदलाव तो लाज़िमी तौर पर होने ही थे (ये बुर्जुआ शासन की निरन्तरता के लिए ज़रूरी भी थे)। इतिहास की इस अपरिहार्य गति का श्रेय भारतीय संविधान के "प्रगतिशील" या "जनवादी" चरित्र को नहीं दिया जा सकता।

यहीं पर यह ज़रूरी लगता है कि दृष्टिकोण की स्पष्टता के लिए, मूल प्रसंग से थोड़ा हटते हुए, बुर्जुआ जनवाद के बारे में थोड़ी चर्चा और कर ली जाये।

अपने शुरुआती चिन्तन के दौर से ही मार्क्स का मानना था कि सच्चा जनवाद तो राज्य के विलोपन तथा राज्य और नागरिक समाज के बीच के विभाजन की समाप्ति के बाद ही अस्तित्व में आ सकता है। जब तक शासक और शासित के बीच विभाजन रहेगा तब तक राजनीतिक दायरे में पूरे समाज के हित साझा नहीं हो सकते और समाज भी एकजुटता और समान हितों के जैविक तन्त्र के रूप में संगठित नहीं हो सकता। आगे चलकर, पेरिस कम्यून की उन्होंने इसीलिए प्रशंसा की कि इसके प्रतिनिधि अपने निर्वाचकों के औपचारिक अनुदेशों से बँधे हुए थे और उन्हें कभी भी वापस बुलाया जा सकता था। कम्यून कार्यपालिका भी था और विधायिका भी। संसद में शासक वर्ग के कौन से प्रतिनिधि जनता का तीन या छह वर्षों तक छद्म प्रतिनिधित्व करेंगे, इसके बजाय सार्विक मताधिकार कम्यूनों में संगठित जनसमुदाय की वास्तविक हितपूर्ति करता था। कम्यून सर्वहारा अधिनायकत्व का पहला मॉडल था जो सिद्ध करता था कि सर्वहारा का वर्ग-शासन किसी भी बुर्जुआ जनवाद से सैकड़ों गुना अधिक जनवादी होगा। बुर्जुआ जनवाद के बारे में मार्क्स का विचार था कि सार्विक मताधिकार, राजनीतिक आज़ादी, विधि का शासन और राजनीतिक प्रतियोगिता इसकी मुख्य अभिलाक्षणिकताएँ होती हैं। पूँजीवादी जनवादी गणराज्य का संविधान बुर्जुआ वर्ग की सामाजिक सत्ता का अनुमोदन करता है और उसका आधार तैयार करता है लेकिन साथ ही जनवादी स्थितियाँ विरोधी वर्गों को बुर्जुआ सत्ता की राजनीतिक गारण्टी के विरुद्ध संगठित होने और इस पर चोट करने का आधार मुहैया करा देती हैं। मार्क्स की स्थापनाओं को और अधिक स्पष्ट तथा विकसित-विस्तारित करते हुए लेनिन ने सामान्य तौर पर "जनवाद" की बात करने को एक उदारतावादी विभ्रम बताया। उनके अनुसार, बुर्जुआ जनवाद राज्य के किसी भी अन्य रूप की तरह वर्ग शासन का एक रूप होता है जिसे ध्वस्त कर सोवियतों (लोक पंचायतों) की व्यवस्था के रूप में सर्वहारा अधिनायकत्व क़ायम करना होता है। यह पहले की किसी भी व्यवस्था के मुकाबले अधिक जनवादी होती है। साथ ही, लेनिन ने बुर्जुआ जनवाद की और गहरी पड़ताल करते हुए स्पष्ट किया कि अपना

(पेज 12 पर जारी)

कैसा है यह लोकतन्त्र और यह संविधान किनकी सेवा करता है?

(पेज 11 से आगे)

प्रभुत्व क़ायम रखने के लिए बुर्जुआ वर्ग कभी बल-प्रयोग और पुरानी एवं कालातीत संस्थाओं को सहारा देने का रूढ़िवादी तरीका अपनाता है तो कभी सुधारों, रियायतों, राजनीतिक अधिकारों के विकास की "उदारतावादी" कार्यनीति अपनाता है। ये तरीके कभी पारी-पारी से इस्तेमाल होते हैं तो कभी एक-दूसरे से गुँथे-बुने होते हैं। इनका मूल कारण बुर्जुआ वर्ग की अपनी स्थिति की आधारभूत अन्तरविरोधी प्रकृति है। दृढ़तापूर्वक स्थापित प्रतिनिधिमूलक व्यवस्था और नागरिकों को (हालाँकि संस्तर के हिसाब से अलग-अलग मात्रा में) कुछ निश्चित राजनीतिक अधिकार दिये बिना सामान्य पूँजीवादी समाज का सफल विकास नहीं किया जा सकता। ऐसे समाज की चेतना व संस्कृति का धरातल ऊँचा करने की अपेक्षा होगी। यह अपेक्षा ऊँची तकनीक, जटिलता, नमनीयता, गतिशीलता, विश्व-प्रतिद्वन्द्विता आदि के तीव्र विकास के साथ स्वयं पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली की परिस्थितियों से ही पैदा होती है। लेनिन ने इस बात पर बल दिया कि आम तौर पर पूँजीवाद, और खास तौर से साम्राज्यवाद जनवाद को एक भ्रम बना देता है, लेकिन इसके साथ ही पूँजीवाद जन साधारण में जनवादी आकांक्षाएँ पैदा करता है, जनवादी संस्थाओं का निर्माण करता है तथा जनवाद को अस्वीकृत या संकुचित या भ्रम बनाने वाले साम्राज्यवाद तथा जनवाद की चाहत रखने वाले जन समुदाय के बीच के विरोध को तीखा करता है। पूँजीवाद का नाश केवल आमूलगामी सामाजिक-आर्थिक- राजनीतिक क्रान्ति द्वारा ही हो सकता है, पर इस क्रान्ति की अगुवाई वही सर्वहारा कर सकता है, और उसके नेतृत्व में वही मेहनतकश जन इसे अंजाम दे सकते हैं जो जनवाद के संघर्ष में शिक्षित हों। बुर्जुआ वर्ग का तख़्ता पलटने की तैयारी में सर्वहारा वर्ग बुर्जुआ वर्ग के ख़िलाफ़ स्वयं उसी द्वारा सृजित एवं विकृत की जाने वाली जनवादी संस्थाओं एवं आकांक्षाओं का इस्तेमाल करता है। ऐसा यदि वह नहीं करता है तो संघर्ष का एक बड़ा मैदान अवसरवादियों-सुधारवादियों के लिए छोड़ देता है, जिससे पूँजीवादी व्यवस्था को काफ़ी राहत और ताक़त मिल जाती है।

जब हम भारत के संविधान और जनवाद (लोकतन्त्र) की बुर्जुआ अन्तर्वस्तु और ऐतिहासिक विशिष्टताओं की चर्चा कर रहे हैं तो संविधान की प्रस्तावना की विवेचना से शुरुआत करते समय ही पूँजीवादी जनवाद के प्रति मार्क्सवादी पहुँच-पद्धति विषयक इन आम प्रस्थापनाओं का संक्षिप्त उल्लेख आवश्यक था। हम यह नहीं कह सकते कि भारतीय संविधान में उल्लिखित जनवाद पूरी तरह से दिखावा था। बेशक यह अति संकुचित था और विकृत था, क्योंकि यह उस बुर्जुआ वर्ग का जनवाद था, जो उपनिवेशवाद के गर्भ से जन्मा था, "समझौता-दबाव-समझौता" की रणनीति अपनाकर तथा साम्राज्यवादी विश्व के संकटों-अन्तरविरोधों का लाभ उठाकर राजनीतिक सत्ता हासिल करने की मंज़िल तक पहुँचा था तथा साम्राज्यवादी सदी के मध्याह्न में सत्तारूढ़ हुआ था। यह न तो साम्राज्यवादी विश्व से निर्णायक विच्छेद कर सकता था, न ही क्रान्तिकारी ढंग से प्राक्-पूँजीवादी भूमि सम्बन्धों को तोड़ सकता था। अत: इसका जनवाद अति सीमित था। फिर भी, राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान जनता को साथ लेने की प्रक्रिया में इसने जनवादी आकांक्षाएँ पैदा की थीं और (साम्राज्यवाद का कनिष्ठ साझीदार होने के बावजूद) औद्योगिक पूँजीपति वर्ग होने के नाते, इसके पूँजीवादी उत्पादन एवं विनिमय तन्त्र के विस्तार के लिए भूमि सम्बन्धों का मंथर-क्रमिक रूपान्तरण भी इसके लिए ज़रूरी था तथा बुर्जुआ जनवादी संस्थाओं की मौजूदगी भी, चाहे उनका रूप जितना भी संकुचित, विकृत और मुख्यत: रस्मी ही क्यों न हो! आश्चर्य नहीं कि वैश्विक और अन्दरूनी संकटों का दबाव इसे ज्यादा से ज्यादा रस्मी और विकृत होने तथा क्षरित-विघटित होने की दिशा में धकेल रहा है। ऐसे में, विभिन्न सुधारवादी-उदारवादी और छद्म वामपन्थी शक्तियाँ विविध रूपों में इसी व्यवस्था के भीतर विरोध पक्ष की प्रतिसन्तुलनकारी भूमिका निभा रही हैं, दूसरी-तीसरी सुरक्षा पंक्ति की भूमिका निभा रही हैं। दमन-दबाव और उदारतावाद की नीतियाँ साथ-साथ मिले रूपों में सामने आ रही हैं।

अब फिर हम भारतीय संविधान की प्रस्तावना में घोषित आभासी तौर पर उदात्त उच्चादर्शों की सच्चाई उद्घाटित करने की मूल विषयवस्तु पर वापस लौटते हैं। पहले चर्चा की जा चुकी है कि स्त्रियों को मताधिकार और अस्पृश्यता के उन्मूलन जैसी संविधान की घोषणाएँ निहायत रस्मी और खोखली थीं। इन घोषणाओं के पीछे संविधान के रैडिकल चरित्र की नहीं बल्कि विशेष ऐतिहासिक दौर की भूमिका थी। इन घोषणाओं में न तो ज़मीनी हक़ीक़त प्रतिबिम्बित होती थी, न ही उसे बदलने में उनकी कोई अहम भूमिका थी। क्रमिक गति से यदि कुछ मात्रात्मक या आंशिक गुणात्मक बदलाव आया भी, तो वह स्वाभाविक ऐतिहासिक क्रम-विकास और पूँजीवादी उत्पादन-तन्त्र की आन्तरिक ज़रूरत से आया था।

अब हम प्रस्तावना में उल्लिखित दूसरे महत्वपूर्ण शब्द "न्याय" की चर्चा करेंगे जिसे अमेरिकी संविधान की प्रस्तावना से उठा लिया गया है। इसे और अधिक प्रभावी बनाने के लिए "सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक" विशेषण जोड़ दिये गये हैं। सर्वहारा वर्ग के स्टैण्ड प्वाइण्ट से यदि सोचें तो जब तक सामूहिक उत्पादक मेहनतकश समुदाय अधिशेष के सामूहिक हस्तगतकर्ता भी न बन जायें और पूँजीवादी शोषण का खात्मा न हो जाये, तब तक आर्थिक न्याय का कोई मतलब नहीं है। उत्पादन, राजकाज और समाज के ढाँचे पर जब तक उत्पादक जन समुदाय काबिज़ न हो जाये और निर्णय की ताक़त उसके हाथों में न आ जाये तब तक राजनीतिक न्याय का कोई अर्थ नहीं है। वर्गीय शोषण के सभी रूपों के खात्मे की प्रक्रिया के साथ-साथ जब तक जेण्डर, जाति, नस्ल, राष्ट्रीयता, धर्म आदि पर आधारित सभी किस्म के अन्याय और शोषण-उत्पीड़न के खात्मे की प्रक्रिया आगे नहीं बढ़ेगी, तब तक सामाजिक न्याय की स्थापना का हर दावा खोखला और बेमानी है।

सामाजिक न्याय की बात करते हुए संविधान-निर्माताओं के ज़ेहन में संविधान में उल्लिखित वाद-योग्य (जिनको लेकर अदालत में जाया जा सकता हो) मूलभूत अधिकारों तथा ऐतिहासिक रूप से संरचित जेण्डर और जाति-आधारित उत्पीड़न की समाप्ति की बात थी। मूलभूत अधिकारों की असलियत पर आगे बात करेंगे। स्त्रियों और दलितों की स्थिति की चर्चा पहले ही की जा चुकी है। राजनीतिक न्याय की चर्चा करते हुए संविधान-निर्माताओं के दिमाग़ में सार्विक मताधिकार की बात थी। बेशक यह एक बुर्जुआ जनवादी अधिकार था। पर आज सभी यह जानते हैं कि, आदर्श स्थिति में भी, बुर्जुआ संसदीय प्रणाली में आम जनता का चुनने का अधिकार सिर्फ़ इस बात का होता है कि उनका प्रतिनिधित्व करने के नाम पर शासक वर्गों का कौन-सा प्रतिनिधि आगामी तीन या पाँच वर्षों तक उन पर शासन करे! संसद केवल महँगी बहसबाज़ी का अड्डा होता है और सरकारें पूँजीपतियों की मैनेजिंग कमेटी की भूमिका निभाती हैं। आज के भारत में संसदीय चुनाव और संसदीय राजनीति में पूँजी और ताक़त का खेल इतने खुले और घृणित रूप में हो रहा है और भ्रष्टाचार का मैला भरा मटका इस तरह चौराहे पर फूट गया है कि सार्विक मताधिकार से राजनीतिक न्याय मिलने का दावा एक अश्लील प्रहसन बनकर रह गया है। विश्वास बहाली और 'डैमेज कण्ट्रोल' के लिए पूँजीपति वर्ग के सुलझे हुए प्रतिनिधि और स्वयं सरकार भी सक्रिय हो गयी है तथा 'सिविल सोसायटी' के सुधारवादी लोग व्यवस्था के दामन पर लगे दागों को साफ करने में जुट गये हैं।

सबसे भोंड़ा-भद्दा मज़ाक तो आर्थिक न्याय की बात है। मूलभूत अधिकारों का अध्याय इसके बारे में कुछ नहीं कहता। राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धान्तों में (जो वाद-योग्य नहीं हैं, मात्र "आदर्श और लक्ष्य" हैं) इनकी सामान्य चलताऊ चर्चा है। मूलभूत अधिकारों में सम्पत्ति का अधिकार तो शामिल है, लेकिन काम करने का अधिकार नहीं। राज्य नागरिकों की बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति की भी ज़िम्मेदारी नहीं लेता। ऐसे में आर्थिक न्याय की बात करना खाली कनस्टर पीटने से अधिक कुछ नहीं है। इस प्रश्न पर हम आगे फिर लौटेंगे। प्रस्तावना के अगले तीन शब्दों – "स्वतन्त्रता", "समता" और "बन्धुत्व" में प्रबोधनकालीन राजनीतिक दर्शन और फ्रांसीसी क्रान्ति के आदर्शों की अनुगूँजें सुनाई पड़ सकती हैं। लेकिन कुछ परिभाषात्मक विशेषण और क्रिया-विशेषण जोड़कर इनके वास्तविक अर्थ को हल्का और विकृत बना दिया गया है। जैसे "समता" की परिभाषा "प्रतिष्ठा और अवसर की समता" के रूप में की गयी है। समता के बारे में रूसो की स्पष्ट धारणा थी कि भौतिक चीज़ों तक जिनकी समान पहुँच नहीं है, उनकी क़ानून तक भी समान पहुँच नहीं हो सकती। मार्क्सवाद इस सोच को यहाँ तक विस्तार देता है कि जो भौतिक वस्तुओं तक पहुँच के मामले में बराबर नहीं, वे "अवसर" तक पहुँच के मामले में भी बराबर नहीं हो सकते। "बन्धुता" के नारे को लेकर भी ऐसा ही प्रपंच रचा गया है। कैथोलिकों और प्रोटेस्टेण्टों के बीच भयंकर धर्मयुद्धों से त्रस्त यूरोप में "बन्धुता" के मूल प्रबोधनकालीन सूत्रीकरण का निहितार्थ था विभिन्न धार्मिक विश्वासों वाले लोगों के बीच बन्धुता। धार्मिक-साम्प्रदायिक बँटवारों को पाटे बिना और वर्ग-शत्रुताओं का शमन किये बिना "राष्ट्र की एकता" सम्भव नहीं थी जो पूँजीवादी राष्ट्रीय बाज़ार के निर्माण के लिए ज़रूरी थी। भारतीय पूँजीपति वर्ग ने धार्मिक-साम्प्रदायिक आधार पर देश के विभाजन के साथ उपनिवेशवादियों से सत्ता हासिल की थी। पर सत्तारूढ़ होने के पहले से ही वह जन एकजुटता को तोड़ने में साम्प्रदायिकता की भूमिका और बुर्जुआ सत्ता के वर्चस्व के सुदृढ़ीकरण में धर्म की भूमिका को बख़ूबी समझता था। इसीलिए धार्मिक कलह, जातिगत विभेद और वर्ग ध्रुवीकरण के प्रश्नों को दरकिनार करते हुए बन्धुता के जुमले को इसने "व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता" तक सीमित कर दिया। यहाँ यह भी प्रतीत होता है कि संविधान-निर्माता प्रबोधनकाल के रैडिकल आदर्शों में विश्वास के दिखावे के साथ ही व्यक्तिवाद की एंग्लो-सैक्सन परम्पराओं से (जिसके वे मानस-पुत्र थे) अपने जुड़ाव का भी तालमेल करना चाहते थे।

यहीं पर प्रस्तावना की पहली ही पंक्ति में उल्लिखित धर्मनिरपेक्षता की भी चर्चा समीचीन होगी। यूरोपीय पुनर्जागरण और प्रबोधन काल से जन्मे क्लासिकी बुर्जुआ जनवादी अर्थों में धर्मनिरपेक्षता का स्पष्ट अर्थ था – धार्मिक संस्थाओं-अनुष्ठानों का राज्य से और राजनीतिक दायरे से पूर्ण पृथक्करण और धार्मिक विश्वासों को निजी जीवन के दायरे तक सीमित कर देना। धर्मनिरपेक्षता की अधिक रैडिकल व्याख्या धार्मिक आस्था को निजी आज़ादी या विश्वास के दायरे तक सीमित रखती है। कोई भी व्यक्ति, समुदाय या राज्य अपने धार्मिक विश्वासों को किसी अन्य नागरिक पर आरोपित नहीं कर सकता, उसके धार्मिक-अधार्मिक, आस्तिक-नास्तिक निजी विश्वासों की आज़ादी नहीं छीन सकता, और राजनीति ही नहीं बल्कि सार्वजनिक जीवन के हर पहलू से धर्म का पूर्ण पृथक्करण होना चाहिए। धर्मनिरपेक्षता की यह अवधारणा प्रबोधनकाल की इस उद्घोषणा से उपजी थी कि "अब से अन्धविश्वास, अन्याय, विशेषाधिकारों तथा अत्याचार को शश्वत सत्य, शाश्वत न्याय, स्वयं प्रकृति से उपजी समानता तथा मनुष्य के जन्मसिद्ध अधिकारों के लिए जगह खाली करनी होगी" (फ्रेडरिक एंगेल्स: 'ड्यूहरिंग मत-खण्डन' की भूमिका)। भारतीय बुर्जुआ वर्ग और संविधान-निर्माता सिद्धान्तकारों की धर्मनिरपेक्षता की सोच इससे अलग थी। भारतीय बुर्जुआ वर्ग के सिद्धान्तकारों ने धर्मनिरपेक्षता की व्याख्या "सर्वधर्म समभाव" के रूप में की। व्यवहार में सर्वधर्म समभाव का विचार तमाम प्राक्पूँजीवादी विचारों-संस्थाओं की मौजूदगी, धार्मिक आधारों पर जनता को बाँटने की ज़रूरत और वोटबैंक की राजनीति के चलते राजनीतिक, शिक्षा, संस्कृति और सामाजिक-नैतिक दायरे में धार्मिक मूल्यों-अन्धविश्वासों की मौजूदगी, साम्प्रदायिकता की राजनीति के उद्भव और विकास तथा कालान्तर में बहुसंख्यकों की धार्मिक कट्टरपन्थी राजनीति का प्रभाव-विस्तार होना ही था। पीछे मुड़कर देखें तो राष्ट्रीय आन्दोलन के दौर में भी भारतीय बुर्जुआ राजनीतिज्ञ जुझारू भौतिकवाद के वाहक नहीं थे। अतीतोन्मुखता व नरम से लेकर कट्टर धार्मिक पुनरुत्थानवाद के तत्व उसके विचारों में तब भी मौजूद थे। सत्तासीन होने के बाद, राज्य से धर्म के पूर्ण पृथक्करण के बजाय धर्मनिरपेक्षता को "सर्वधर्म समभाव" के रूप में परिभाषित करना तथा परस्पर-विरोधी धर्मावलम्बियों के बीच बन्धुता सुनिश्चित करने के बजाय बन्धुता के जुमले को व्यक्ति की गरिमा तथा राष्ट्र की एकता-अखण्डता से जोड़ देना (अखण्ड भारत के झण्डाबरदार हिन्दू कट्टरपन्थी भी बन्धुता की बात करते हैं, पर उसमें "संयुक्त परिवार टाइप राष्ट्र" में अल्पसंख्यक छोटे भाइयों को हर हाल में बहुसंख्यक बड़े भाइयों का अधीनस्थ आज्ञाकारी होना होगा) भारतीय बुर्जुआ वर्ग के ऐतिहासिक चरित्र के सर्वथा अनुरूप था। आश्चर्य नहीं कि बुर्जुआ संसदीय राजनीति में भाजपा की कट्टर केसरिया लाइन के साथ कांग्रेस व अन्य दल भी समयानुसार नरम केसरिया लाइन अपनाते हैं या मतों के धार्मिक और जातिगत (जाति प्रश्न को धर्म से एकदम अलग करके नहीं देखा जा सकता) ध्रुवीकरण का लाभ उठाते रहते हैं। इस पूरी स्थिति में विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता भी ज़ाहिरा तौर पर सभी धर्मावलम्बियों के लिए (और नास्तिक विश्वास वालों के लिए भी) समान नहीं है। धर्म की सामाजिक-राजनीतिक जीवन में दख़लन्दाज़ी और साम्प्रदायिकता की राजनीति और संस्कृति ने अल्पसंख्यकों को दोयम दर्जे का नागरिक बनाकर "प्रतिष्ठा और

(पेज 15 पर जारी)

शिकागो के शहीद मज़दूर नेताओं की कहानी

अपने संघर्ष के दौरान मज़दूर वर्ग ने बहुत-से नायक पैदा किये हैं। अल्बर्ट पार्सन्स भी मज़दूरों के एक ऐसे ही नायक हैं। यह कहानी अल्बर्ट पार्सन्स और शिकागो के उन शहीद मज़दूर नेताओं की है, जिन्हें आम मेहनतकश जनता के हक़ों की आवाज़ उठाने और 'आठ घण्टे के काम के दिन' की माँग को लेकर मेहनतकशों की अगुवाई करने के कारण 11 नवम्बर, 1887 को शिकागो में फाँसी दे दी गयी।

मई दिवस के शहीदों की यह कहानी हावर्ड फ़ास्ट के मशहूर उपन्यास **'दि अमेरिकन'** का एक हिस्सा है। इसमें शिलिंग नाम का बढ़ई मज़दूर आन्दोलन से सहानुभूति रखने वाले जज पीटर आल्टगेल्ड को अल्बर्ट पार्सन्स की ज़िन्दगी और शिकागो में हुई घटनाओं और मज़दूर नेताओं की क़ुर्बानी के बारे में बताता है। **– सं.**

"तुम्हें याद है आज से डेढ़ साल पहले हमने तय किया था कि साल का एक दिन अमेरिकी मज़दूरों को समर्पित किया जाये, एक दिन जो हमारा होगा, जो हमारी एकता और आठ घण्टे काम के संघर्ष में हमारे दृढ़संकल्प का प्रतीक होगा। हमने पहली मई का दिन चुना। क़सम से, तुमने सोचा होगा कि हमने अपने लिए एक दिन, अपने लिए एक छुट्टी माँगकर देश की बुनियाद ही नष्ट कर दी। तुम्हें याद होगा कि जैसे-जैसे वह दिन क़रीब आया, क्या हुआ। पिंकरटन्स की पूरी फ़ौज शिकागो में उमड़ पड़ी। पुलिसवाले सर से पाँव तक हथियारों से लैस हो गये। सड़कों पर घूमने वाले सारे आवारों को हमारे ख़िलाफ़ तैनात कर दिया गया। नेशनल गार्ड को सावधान कर दिया गया। यहाँ तक कि शिकागो में शान्ति बनाये रखने के लिए फ़ौज की टुकड़ियों की माँग की गयी। लेकिन क्या हमसे शान्ति को ख़तरा था? हमने तो बस आठ घण्टे काम के आन्दोलन के लिए अपनी एकजुटता प्रदर्शित करने के लिए एक दिन माँगा था। और शनिवार का वह दिन आया और बीत गया। कोई गड़बड़ी नहीं हुई। गड़बड़ी तो हमारी दुश्मन थी। हमें अपना उद्देश्य पता था। हम सारे देश में संगठित थे – हिंसा से हमें क्या लाभ मिलता?

"लेकिन 3 मई को, सोमवार के दिन एक बुरी बात हो गयी। तुम जानते ही हो इसके बारे में, पर मैं हर चीज़ को उसकी जगह पर रखना चाहूँगा। मैकार्मिक कारख़ाने पर आयोजित प्रदर्शन सिर्फ़ लम्बर शोवर्स यूनियन का ही प्रदर्शन नहीं था, वहाँ मैकार्मिक कारख़ाने के भी एक हज़ार से ज़्यादा हड़ताली मज़दूर थे। हालाँकि आगस्त स्पाइस वहाँ बोला था पर उसने गड़बड़ी करने का नारा नहीं दिया था। उसने एकता के लिए आह्वान किया था। यह कोई अपराध है क्या? गड़बड़ी तो तब शुरू हुई जब हड़ताल तोड़ने वाले मज़दूर कारख़ाने से बाहर जाने लगे। हड़तालियों ने उन्हें देख लिया और बुरा-भला कहना, गालियाँ देना शुरू कर दिया जो यहाँ दोहराने लायक़ नहीं है। उस दृश्य की कल्पना करो। दो यूनियनों के छह हज़ार हड़ताली मज़दूर बाहर सभा कर रहे हैं और उनकी नज़रों के सामने से हड़ताल-तोड़क चले जा रहे हैं। मैंने देखा – वहाँ क्या हुआ। मैकार्मिक के हड़ताली कारख़ाने की ओर बढ़ने लगे। किसी ने उनसे कहा नहीं था, किसी ने उन्हें उकसाया नहीं था। उन्होंने सुनना बन्द कर दिया था और वे फाटकों की ओर बढ़ रहे थे। हो सकता है उन्होंने कुछ पत्थर उठा रखे हों, हो सकता है उन्होंने भद्दी बातें कहीं हों – लेकिन उनके कुछ करने से पहले ही कारख़ाने की पुलिस ने गोलियाँ चलानी शुरू कर दीं। हे भगवान, लगता था जैसे कोई युद्ध हो। हड़ताली निहत्थे थे और पुलिस मानो चाँदमारी कर रही हो, पिस्तौलें हाथ भर की दूरी पर थीं, रायफ़लें भी तनी हुई थीं – धाँय, धाँय, धाँय...।

"लोगों का कहना है कि कारख़ाने ने कुमुक माँगी थी। इसमें कुछ वक़्त लगता, लगता या नहीं, लेकिन मिनटों में पुलिसवालों से लदी एक गश्ती गाड़ी आ धमकी और उनके पीछे दौड़ते हुए आयी दो सौ हथियारबन्द आदमियों की टुकड़ी।

"ऐसा दृश्य पुरानी दुनिया में सम्भव था, यहाँ नहीं। मज़दूर ऐसे गिर रहे थे जैसे लड़ाई का मैदान हो। जब उन्होंने टिककर खड़े होने की कोशिश की तो पुलिसवाले चढ़ दौड़े और लाठियों से पीटकर उन्हें अलग कर दिया। जब वे तितर-बितर होकर दौड़े तो पुलिसवालों ने उनका पीछा किया, पीछे से लाठियाँ बरसायीं। देखा नहीं जाता था। यह क्रूरता थी, वहशीपन था। भाग जाने का मन कर रहा था। लगता था कै हो जायेगी। और यही किया मैंने। पर स्पाइस भागकर 'आरबाइटेर ज़ाइटुंग' (श्रमिक समाचारपत्र) के दफ़्तर पहुँचा और इस घटना का विरोध करने के लिए हे मार्केट चौराहे पर मीटिंग की फ़ौरी ख़बर चारों ओर भिजवायी। यह थी शुरुआत। इसलिए शुरू हुआ यह सब क्योंकि हम अपने दिन, मई दिवस पर शान्त और संयमित थे और वे इसे गवारा नहीं कर सकते थे। बन्दूक़ों से, बन्दूक़ों से वे असली गड़बड़ी फैला सकते थे और तब लोग चीख़-चीख़कर क्रान्ति की बात करते।

पर असल बात यह है कि पार्सन्स वहाँ नहीं था। ठीक वैसे ही जैसे पार्सन्स उस वक़्त हे मार्केट में नहीं था जब बम फेंका गया। सिर्फ़ मैकार्मिक के और लकड़ी ढोने वाले मज़दूर ही हड़ताल पर नहीं थे। पुलमैनवाले, ब्रून्जविकवाले, पैकिंग कारख़ानों के मज़दूर, सभी हड़ताल पर थे और शिकागो ही नहीं सेण्ट लुई, सिनसिनाटी, न्यूयार्क, सान फ़्रांसिस्को हर जगह हड़ताल थी। पार्सन्स कहीं भी हो सकता था, पर वह यहाँ नहीं था। पार्सन्स थका हुआ और बीमार था। वह घर आता और बिस्तर पर ढह जाता। मज़दूरों के संगठनकर्ता की ज़िन्दगी ज़्यादा नहीं चलती। पहले पेट जवाब देता है, फिर टाँगें और जब आपको अच्छी तरह पीटा और लाठियों से कूँचा जा चुका हो तब सिर और दिमाग़ भी जवाब देने लगते हैं।

"तो उन्होंने अगले दिन हे मार्केट में मीटिंग रखी। हे मार्केट को उन्होंने इसलिए चुना था क्योंकि वह जगह बड़ी थी। स्पाइस तो जैसे पागल हो उठा था। घायल और मर रहे आदमियों की तस्वीर उसके दिमाग़ से हटती ही नहीं थी। वह सोच रहा था कि हज़ारों-हज़ार मज़दूर विरोध प्रदर्शन में आ जायेंगे। लेकिन मैकार्मिक तो एक विराट संघर्ष का छोटा-सा हिस्सा भर था और मज़दूरों की हार तो शुरू हो चुकी थी। हर जगह उन्हें कुचला और तोड़ा जा रहा था। एक और मीटिंग से भला क्या हो जाता? पर स्पाइस को कम मत समझना। वह बहुत तेज़ आदमी था, और ईमानदार भी। विदेशों में जन्मे मज़दूरों के बीच उसकी वही हैसियत थी जो अमेरिकी मज़दूरों के बीच पार्सन्स की थी। वह सोचता था कि यह एक ऐसा मौक़ा है जिसे गँवाना नहीं चाहिए। अगर हे मार्केट में बीस हज़ार मज़दूर इकट्ठा हो जाते हैं तो 'काम के घण्टे आठ' आन्दोलन का रुख़ बदल सकता है। हो सकता है कि ऐसा ही होता, पर पता नहीं, जैसा मैं कह रहा था, मैं इन लोगों से सहमत नहीं हूँ। क्रान्ति की बात से मेरी लड़ाई आगे नहीं बढ़ती, बाधित ही होती है। मैं तो ऐसा ही समझता हूँ।

"लेकिन अगली शाम को हे मार्केट में बीस हज़ार लोग नहीं इकट्ठा हुए। जब स्पाइस वहाँ पहुँचा तो बहुत थोड़े लोग थे। शाम गुज़रने के साथ लोग उधर बढ़े तो सही, पर कभी भी भीड़ तीन हज़ार तक भी नहीं पहुँची। चूँकि भीड़ कम थी इसलिए उन्होंने मीटिंग की जगह हे मार्केट से बदलकर दे प्लेन कर दी, जो लेक और रैंडोल्फ़ के बीच की एक जगह थी। लेकिन मैं तुम्हें पार्सन्स के बारे में बता रहा हूँ। सिर्फ़ इसीलिए तो आज सुबह तुम्हारा वक़्त बरबाद कर रहा हूँ। मैं तुम्हें बता रहा हूँ कि कैसे पार्सन्स वहाँ नहीं था, कैसे उसे मीटिंग के बारे में पता तक नहीं था। वैसे तो सैम फ़ील्डेन (पार्सन्स और स्पाइस का दोस्त और मज़दूर संगठनकर्ता) भी हे मार्केट की मीटिंग के बारे में नहीं जानता था।

"लेकिन फिर पार्सन्स के बारे में बात करें। उसने दो मई को शिकागो छोड़ दिया था और भाषण देने सिनसिनाटी चला गया था। तीन मई के पूरे दिन जब मैकार्मिक कारख़ाने पर यह भयानक घटना घट रही थी, तब पार्सन्स यहाँ था ही नहीं। वह चार की सुबह घर पहुँचा। वह सारी रात सोया नहीं था। जब लूसी उसे बता रही थी कि यहाँ क्या हुआ तब वह थकान से निढाल हो रहा था। ख़ुद उसने सिनसिनाटी में जो कुछ देखा था उससे कुछ अलग नहीं था यह। मालिक लोग नाराज़ थे। मालिकों के लिए उन्हें चुनौती देने की जुर्रत करने वाले गन्दे राक्षस को कुचल डालना ज़रूरी था, और वे उसको कुचलने में लगे हुए थे। और हर कहीं वह टुकड़े-टुकड़े हो रहा था। गैटलिंग बन्दूक़ के सामने भूखे, थके, निहत्थे आदमी की क्या बिसात थी!

"पार्सन्स पत्नी का बयान सुनता रहा। अपने दोनों बच्चों के साथ खेलता रहा। उसने पत्नी की दी हुई कॉफ़ी पी, पावरोटी का एक टुकड़ा खाया। उसने लूसी से कहा, 'हमें कुछ करना ही होगा।' पर करने को था ही क्या? वह बोली, 'तुम बहुत थक गये हो। आज रात मीटिंग नहीं कर पाओगे।' वह हे मार्केट की मीटिंग की बात नहीं कर रही थी। उस मीटिंग के बारे में तो वह जानती ही नहीं थी। 'मीटिंग तो करनी ही होगी,' पार्सन्स ने कहा। पार्सन्स के नेतृत्व में काम करने वालों को हम लोग 'अमेरिकी ग्रुप' कहते थे क्योंकि उनमें से ज़्यादातर अमेरिका में पैदा हुए मज़दूर थे। उसने तय किया कि मीटिंग होगी और बेहद थके होने के बावजूद 'डेली न्यूज़' में घोषणा करवाने चला गया। फिर वह घर लौटा और बच्चों के साथ थोड़ी देर और खेला। फिर सो गया। जागने पर वह काफ़ी अच्छा महसूस कर रहा था। पहले जैसा, हँसता-हँसाता। लूसी बताती है कि उसने हार की नहीं जीत की बातें कीं, और कहा कि उसके बच्चे एक ऐसे अमेरिका में बड़े होंगे जो दुनिया को न्याय और आज़ादी की ओर ले जायेगा।

"शाम को वह, लूसी और दोनों बच्चे मीटिंग में गये। हमेशा की तरह वह और लूसी साथ-साथ चल रहे थे, प्रेमियों की तरह एक-दूसरे को निहारते हुए।

"इस बीच हे मार्केट की मीटिंग में लोग तो कम थे ही, वह शुरू ही नहीं हो पा रही थी। कैसी बुरी रात थी! डरावनी, कभी भी पानी बरसने का ख़तरा बना हुआ था। बारिश के डर से काफ़ी लोग नहीं आये थे। जो आये थे वे इन्तज़ार कर रहे थे कि कब मीटिंग शुरू हो और ख़त्म हो। लेकिन जानते ही हो, सब पार्सन्स पर निर्भर थे, पर पता चला कि हरेक ने पार्सन्स को मीटिंग में लाने की बात किसी और पर छोड़ रखी है। स्पाइस मीटिंग को पार्सन्स के बिना शुरू नहीं करना चाहता था और जब किसी ने 'डेली न्यूज़' की घोषणा के बारे में बताया तो स्पाइस बोला कि वह ख़ुद पार्सन्स को लेने जायेगा। लेकिन ऐसा करने से तो मीटिंग की जान ही निकल जाती। उन्होंने स्पाइस को बोलना शुरू करने के लिए तैयार कर लिया और कोई दूसरा पार्सन्स को ढूँढ़ने चला गया। स्पाइस ने बोलना शुरू किया। उसने जो कहा उसे दोहराने की ज़रूरत नहीं। अख़बारों में काफ़ी छप चुका है। लेकिन यह याद करने की ज़रूरत है कि उसने मुख्य तौर पर 'काम के घण्टे आठ' आन्दोलन की बात की। उसने कहा कि सबकुछ सिर्फ़ इसीलिए ख़त्म नहीं हो जाना चाहिए कि मज़दूरों पर लाठियाँ-गोलियाँ बरसायी गयी हैं। हमें और एकजुट होना होगा, और कठिन संघर्ष करना होगा। और उसने बताया कि पिछले दिन मैकार्मिक पर क्या हुआ था। इस बीच कोई दूसरी वाली मीटिंग में पार्सन्स के पास पहुँच चुका था। वहाँ फ़ील्डेन भी था। वह तो होता ही, क्योंकि भले ही वह अंग्रेज़ है पर अमेरिकियों के साथ मुझसे बेहतर ढंग से बात कर सकता है। पार्सन्स बुरी तरह थका हुआ था पर उसने कहा कि वह आयेगा और फिर से बोलेगा। फ़ील्डेन भी उसके साथ आया। फ़ील्डेन लम्बा-तड़ंगा है। यार्कशायरवालों की तरह उसे गुस्सा देर से आता है पर चारों ओर जो कुछ हो रहा था उसे देख-सुनकर वह भीतर ही भीतर उबल रहा था। उसके मन में कड़वाहट भर गयी थी। और जब वह बोलता था तो यह कड़वाहट बाहर आ जाती थी।

"ख़ैर! पार्सन्स अपनी पत्नी और दोनों बच्चों के साथ दे प्लेन स्ट्रीट गया जहाँ स्पाइस की मीटिंग थी। बच्चे तब तक थक चुके थे। एक लूसी की गोद में था, दूसरा पार्सन्स की। हाँ-हाँ, यह मैं तुम्हारी सहानुभूति

शिकागो के शहीद मज़दूर नेता

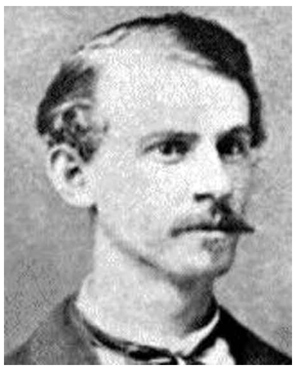

“हमारी मौत दीवार पर लिखी ऐसी इबारत बन जायेगी जो नफ़रत, बैर, ढोंग-पाखण्ड, अदालत के हाथों होने वाली हत्या, अत्याचार और इन्सान के हाथों इन्सान की गुलामी के अन्त की भविष्यवाणी करेगी। दुनियाभर के दबे-कुचले लोग अपनी क़ानूनी बेड़ियों में कसमसा रहे हैं। विराट मज़दूर वर्ग जाग रहा है। गहरी नींद से जागी हुई जनता अपनी ज़ंजीरों को इस तरह तोड़ फेंकेगी जैसे तूफ़ान में नरकुल टूट जाते हैं।”

– अल्बर्ट पार्सन्स

अल्बर्ट पार्सन्स
जन्म : 20 जून, 1848
मृत्यु : 11 नवम्बर, 1887 को फाँसी
पेशा : प्रिण्टिंग प्रेस का मज़दूर

“एक दिन आयेगा जब हमारी ख़ामोशी उन आवाज़ों से ज़्यादा ताक़तवर साबित होगी जिनका तुम आज गला घोंट रहे हो!”

– ऑगस्ट स्पाइस

ऑगस्ट स्पाइस
जन्म : 10 दिसम्बर, 1855
मृत्यु : 11 नवम्बर, 1887 को फाँसी
पेशा : फर्नीचर कारीगर

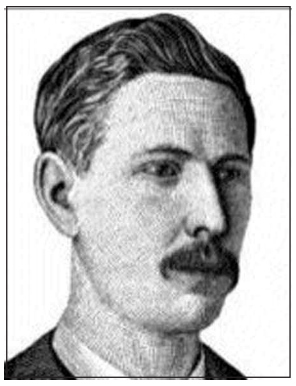

“वह इन्सानियत की मुक्ति के लिए अपनी जान की क़ुर्बानी देने की इच्छा रखता था और उसे उम्मीद थी कि ऐसा ही होगा। उसे मज़दूर वर्ग की हालत में थोड़े-बहुत सुधार करने वाले उपायों पर ज़रा भी भरोसा नहीं था।”

– विलियम होल्म्स

एडॉल्फ फिशर
जन्म : 1858
मृत्यु : 11 नवम्बर, 1887 को फाँसी
पेशा : प्रिण्टिंग प्रेस का मज़दूर

“एंजिल मज़दूर वर्ग के संघर्ष का एक बहादुर सिपाही था। वह मेहनतकशों की मुक्ति के लक्ष्य के लिए जीजान लड़ा देने वाला बाग़ी था।”

– ऑस्कर नीबे

जॉर्ज एंजिल
जन्म : 15 अप्रैल, 1836
मृत्यु : 11 नवम्बर, 1887 को फाँसी
पेशा : खिलौने बेचनेवाला

शिकागो के शहीद मज़दूर नेताओं की कहानी

(पेज 13 से आगे)

पाने के लिए ही कह रहा हूँ। आज के बाद वक़्त नहीं होगा। और मुझे तुमसे सहानुभूति पाने में कोई शर्म नहीं है।

“अभी भी काले आसमान के नीचे क़रीब दो हज़ार आदमी पार्सन्स का इन्तज़ार कर रहे थे। तुम नहीं समझोगे। पर मैंने दो-दो घण्टे खड़े रहकर पार्सन्स के बोलने का इन्तज़ार किया है। वहाँ दो गाड़ियाँ थीं। एक गाड़ी का इस्तेमाल भाषण देने वाले मंच की तरह कर रहे थे और दूसरी पर लोग बैठे थे, पर उन्होंने लूसी पार्सन्स और बच्चों के लिए जगह बना दी। पार्सन्स को देखकर स्पाइस को राहत मिली। तुम्हीं सोचो, कैसा लगेगा जब तुम्हारी नज़र में इतना महत्त्वपूर्ण मौक़ा हो और भीड़ खिसकना शुरू कर दे।

“स्पाइस को ऐसा ही लग रहा था। तुम तो ख़ुद ही काफ़ी दिनों से राजनीति में रहे हो। समझ सकते हो कि अगर श्रोता मीटिंग छोड़कर जाने लगें, और वह भी एक-एक करके नहीं, झुण्डों में, तो अच्छे से अच्छा आदमी भी पस्त हो जायेगा। बहरहाल, जब पार्सन्स बोलने के लिए खड़ा हुआ तो नौ बज चुके थे। लोग रुक गये। ज़रा उसकी हालत के बारे में सोचो। वह तीस घण्टों से नहीं सोया था। एक मीटिंग में बोलकर सीधे वहाँ पहुँचा था। वह सबकुछ जिसके लिए वह लड़ता रहा था, उसे अपनी आँखों के सामने टूटते, बिखरते देख रहा था। फिर भी वह बोला, और अच्छी तरह बोला। उसने ‘आठ घण्टे के काम’ आन्दोलन से बात शुरू की, फिर मज़दूरों के बारे में बोला। मैं नहीं समझता, अमेरिका में मज़दूरों के बारे में कोई पार्सन्स से ज़्यादा जानता होगा। वह इज़ारेदारी के बढ़ने के बारे में बोला – यह सब ठीक है। तुमने उसका बयान पढ़ा है, तुम जानते हो वह किसके बारे में बोला। लेकिन ये बातें सरासर झूठी हैं कि उसने पहले से लिखकर तैयार किया हुआ कोई भाषण दिया, यह बिल्कुल झूठ है। उसके दिमाग़ में जो बातें आती गयीं, वह बोलता गया। कोई लिखा हुआ भाषण नहीं था और न ही किसी ने उसकी बातों को लिखा था। हाँ, अगले दिन एक भाषण का आविष्कार कर लिया गया, पर वह पार्सन्स का नहीं था।

“और फिर उसने बात ख़त्म की और फ़ील्डेन का परिचय कराया। यहाँ बैठकर तुमसे बातें करते हुए फ़ील्डेन की बातों को याद करना दिलचस्प है क्योंकि फ़ील्डेन क़ानून के बारे में बोला था। धनिकों का क़ानून, ग़रीबों का नहीं, धनिकों की अदालतें, ग़रीबों की नहीं। ठीक है, मैं पार्सन्स के बारे में ही बताता हूँ। बैठो, और मेरी बात सुनो, या हो सकता है तुम मेरी बात न सुनो और सोचो कि यह बेवकूफ़ बढ़ई बेकार में तुम्हारा वक़्त बरबाद कर रहा है। लेकिन इस बढ़ई का लेबर पार्टी में राजनीतिक प्रभाव है, तुम्हें उसकी बातें सुननी चाहिए और उसकी भावनाओं को ठेस नहीं पहुँचाना चाहिए। ठीक है, फिर मुझे अपनी तरह से बताने दो।

“फ़ील्डेन ने बोलना शुरू किया तो पार्सन्स गाड़ी के पास गया और छोटे बच्चे को उठा लिया। तभी बारिश शुरू हो गयी। एक बच्चा रोने लगा। जो कुछ हुआ उसकी रोशनी में इस बात पर ग़ौर करना। बच्चे को गोद में लिए हुए पार्सन्स मंच तक गया जहाँ से फ़ील्डेन बोल रहा था। उसने कहा कि बारिश हो रही है, क्यों न वे जेफ हॉल में चले चलें जहाँ अक्सर उनकी मीटिंगें हुआ करती थीं। उसने ऐसा इसलिए सोचा क्योंकि उसकी गोद में बच्चा था और वह ख़ुद बहुत थका हुआ था। लेकिन दो हज़ार लोगों को सड़कों से होकर शान्ति के साथ ले जाना और हॉल में ले जाकर व्यवस्थित ढंग से बैठाना कैसे होता है। ‘मैं बस दो मिनट में बात ख़त्म करता हूँ,’ फ़ील्डेन बोला। पार्सन्स ने सिर हिलाया पर वह बच्चों के साथ बारिश में वहाँ खड़ा नहीं रह सकता था। भीड़ छँट रही थी। उस वक़्त तक वहाँ करीब छः-सात सौ लोग होंगे, जो अभी भी बारिश में खड़े भाषण सुन रहे थे।

“तो पार्सन्स, लूसी, दोनों बच्चे और एक दोस्त मीटिंग से जेफ हॉल चले गये। वे थोड़ी देर के लिए ही गये थे वहाँ, कुछ लोगों से मिलने, और उसके बाद उन्हें घर जाना था। लेकिन धमाका उन्होंने वहीं पर सुना।

“और वह धमाका, वह बम – तुम तो जानते ही हो कैसे हुआ, या हो सकता है न जानते हो। इस बात को बहुत दिन हो गये हैं, हो सकता है मेरे अच्छे दोस्त को बात याद न हो। फ़ील्डेन बोल ही रहा था कि वार्ड और बोनफील्ड के नेतृत्व में दो सौ पुलिसवाले भीड़ को ठेलते हुए आ धमके। क्यों? कैसे? किसलिए? उस शान्त, व्यवस्थित मीटिंग के लिए जो ख़ुद बिखर रही थी? मुश्किल से पाँच सौ लोग बचे होंगे उस वक़्त तक। और सिपाहियों के आगे खड़ा वार्ड चिल्लाने लगा कि वे फ़ौरन तितर-बितर हो जायें। फ़ील्डेन क्या करता? बोलना बन्द करके वह गाड़ी से उतरने लगा। भीड़ सड़क के दूसरी ओर जाने लगी। तभी बम फेंका गया, भगवान जाने कहाँ से। वह पुलिसवालों के सामने ही फटा। एक वहीं मर गया, कई घायल हुए। किसने फेंका था बम? डेढ़ साल से इस दुख की नगरी में हमने इसके सिवा कुछ नहीं सुना है कि बम किसने फेंका। भगवान या शक्ति या भाग्य जो भी हो, मैं उसकी क़सम खाकर कहता हूँ जज, कि हमारे किसी आदमी ने बम नहीं फेंका। हाँ, यही राय है मेरी। और मेरे पूर्वाग्रह हैं। मैं एक मज़दूर हूँ और निश्चित तौर पर मेरे पूर्वाग्रह हैं। पर अब जबकि कुछ घण्टों में पार्सन्स मरने जा रहा है, मैं यह क़सम खाकर कहता हूँ। मुझे हिंसा से नफ़रत है। मैं क़सम खाकर जो कह रहा हूँ, उस पर मुझे विश्वास है। यह बम हमारे दुश्मनों ने फेंका था। तब से अब तक जो कुछ हुआ है उस पर ग़ौर करो और सोचो कि क्या इसके अलावा कोई और बात हो सकती थी? सोचो कि बम फेंके जाने के तुरन्त बाद क्या हुआ, कैसे पुलिसवालों ने बन्दूक़ें तान लीं और गोलियाँ चलानी शुरू कर दीं। इसके आगे तो एक दिन पहले की मैकार्मिक की घटना मामूली पड़ गयी थी। उन्होंने पागलों की तरह गोलियाँ चलायीं। उन्होंने मज़दूरों को, उनकी बीवियों को और बच्चों को भून डाला। हम निहत्थे थे। हमारी तरफ़ से कोई गोली नहीं चली। लेकिन पुलिस गोलियाँ बरसाती रही। भीड़ तितर-बितर हो गयी थी और लोग चीख़ते हुए चारों ओर भाग रहे थे।

“यह है सच्चाई,” छोटे क़द के उस बढ़ई ने कहा, “मैंने वहाँ मौजूद सैकड़ों लोगों

(पेज 15 पर जारी)

शिकागो के शहीद मज़दूर नेताओं की कहानी

से यही कहानी सुनी है। यही सच्चाई है।"

●

उन्हें शुक्रवार को फाँसी दी गयी। अगले दिन अख़बारों में फाँसी के विस्तृत ब्योरे और ढेरों सम्पादकीय छपे थे – मरने वाले व्यक्तियों पर, क़ानून और व्यवस्था पर, जनतन्त्र पर, संविधान और इसके ढेरों संशोधनों पर – जिनमें से कुछ को 'बिल ऑफ़ राइट्स' कहा जाता है – क्रान्ति, गणतन्त्र के संस्थापकों और गृहयुद्ध के बारे में। इसी के साथ छपी थीं अन्त्येष्टि की सूचनाएँ। शहर के अधिकारियों ने पाँचों मृत व्यक्तियों – लिंग्ग, जो अपनी कोठरी में मर गया था, पार्सन्स, स्पाइस, फ़िशर और एंजिल के सम्बन्धियों और मित्रों को उनके शरीर प्राप्त कर लेने की अनुमति दे दी थी। ये मित्र और सम्बन्धी यदि चाहें तो उन्हें सार्वजनिक अन्त्येष्टि करने की भी इजाज़त थी। मेयर रोश ने घोषणा कर दी थी कि वाइल्डहाइम क़ब्रगाह जाते हुए मातमी जुलूस किन-किन सड़कों से गुज़र सकता था। यह सब बारह से दो के बीच होना था। सिर्फ़ मातमी संगीत बज सकता था। हथियार नहीं ले जाये जा सकते थे, झण्डे और बैनर लेकर चलना मना था। अख़बारों के मुताबिक़ हालाँकि ये लोग समाज के घोषित दुश्मन थे, अपराधी और हत्यारे थे, फिर भी अन्त्येष्टि में शामिल होने के लिए कुछ सौ लोग चले आ सकते थे। और संविधान के उस हिस्से के मुताबिक़, जो धार्मिक स्वतन्त्रता की गारण्टी देता है, इस अन्त्येष्टि की इजाज़त देना न्यायसंगत ही था।

इतवार को जज ने पत्नी से कहा कि वह बाहर टहलने जा रहा है। हालाँकि एम्मा को शक था कि वह टहलते हुए कहाँ जायेगा पर वह कुछ बोली नहीं। न ही उसने यह कहा कि इतवार की सुबह उसके अकेले बाहर जाने की इच्छा कुछ अजीब थी। लेकिन दरअसल, यह कोई ताज्जुब की बात नहीं थीं, जुलूस के रास्ते की ओर जाते हुए जज ने महसूस किया कि वह तो हज़ारो-हज़ार शिकागोवासियों में से बस एक है। और फिर ऐसा लगने लगा मानो क़रीब-क़रीब आधा शहर शिकागो की उदास, गन्दी सड़कों के दोनों ओर खड़ा जुलूस का इन्तज़ार कर रहा है।

सुबह ठण्डी थी और वह यह भी नहीं चाहता था कि लोग उसे पहचानें। इसलिए उसने कोट के कॉलर उठा लिये और हैट को माथे पर नीचे खींच लिया। उसने हाथ जेबों में ठूँस लिये और शरीर का बोझ कभी एक ठिठुरे हुए पैरे तो कभी दूसरे पर डालता हुआ इन्तज़ार करने लगा।

जुलूस दिखायी पड़ा। यह वैसा नहीं था जिसकी उम्मीद थी। वैसा तो क़तई नहीं था जैसी उम्मीद करके शहर के अधिकारियों ने इजाज़त दी थी। कोई संगीत नहीं था, सिवाय हल्के पदचापों और औरतों की धीमी सिसकियों के और बाक़ी सारी आवाज़ें, सारे शोर जैसे इनमें डूब गये थे। जैसे सारे शहर को ख़ामोशी के एक विशाल और शोकपूर्ण कफ़न ने ढँक लिया हो।

पहले झण्डा लिये हुए एक आदमी आया, जुलूस का एकमात्र झण्डा, एक पुराना रंग उड़ा हुआ सितारों और पट्टियोंवाला झण्डा जो गृहयुद्ध के दौरान गर्व के साथ एक रेजीमेण्ट के आगे चलता था। उसे लेकर चलने वाला गृहयुद्ध में लड़ा एक सिपाही था, एक अधेड़ उम्र का आदमी जिसका चेहरा ऐसा लग रहा था मानो पत्थर का गढ़ा हो।

फिर आयीं अर्थियाँ और ताबूत। फिर पुरानी, खुली हुई घोड़ागाड़ियाँ आयीं, जिनमें परिवारों के लोग थे। उनमें से एक में आल्टगेल्ड ने लूसी पार्सन्स को देखा, वह अपने दोनों बच्चों के साथ बैठी थी और निगाहें सीधी सामने टिकी हुई थीं।

फिर आये मरने वालों के अभिन्न दोस्त, उनके कामरेड। वे चार-चार की क़तार में चल रहे थे, उनके चेहरे भी उदास थे, जैसे गृहयुद्ध के सिपाही का चेहरा था।

फिर अच्छे कपड़ों में पुरुषों और स्त्रियों का एक समूह आया। उनमें से कइयों को आल्टगेल्ड जानता और पहचानता था – वकील, जज, डॉक्टर, शिक्षक, छोटे व्यापारी और बहुत-से दूसरे जो इन पाँचों मरने वालों को बचाने की लड़ाई में शामिल थे।

फिर आये मज़दूर जिनकी कोई सीमा ही नहीं थीं। वे आये थे पैकिंग करने वाली कम्पनियों से, लकड़ी के कारख़ानों से, मैकार्मिक और पुलमैन कारख़ानों से। वे आये थे मिलों से, खाद की खत्तियों से, रेलवे यार्डों से और कनस्तर गोदामों से। वे आये थे उन सरायों से जिनमें बेरोज़गार रहते थे, सड़कों से, गेहूँ के खेतों से, शिकागो और एक दर्जन दूसरे शहरों की गलियों से। बहुत-से अपने सबसे अच्छे कपड़े पहने हुए थे, अपना एकमात्र काला सूट जिसे पहनकर उनकी शादी हुई थी। बहुतों के साथ उनकी पत्नियाँ भी थीं, बच्चे भी उनके साथ चल रहे थे। कुछ ने बच्चों को गोद में उठा रखा था। लेकिन बहुतेरे ऐसे भी थे जिनके पास काम के कपड़ों के सिवा कोई कपड़े नहीं थे। वे अपनी पूरी वर्दी और नीली जींस और फलालैन की क़मीज़ें पहने हुए थे। चरवाहे भी थे जो पाँच सौ मील से अपने घोड़ों पर यह सोचकर आये थे कि शिकागो में इन लोगों की सज़ा माफ़ करायी जा सकती है क्योंकि यहाँ के लोगों में विश्वास और इच्छाशक्ति है। और जब इसे नहीं रोका जा सका तो वे अर्थी के साथ चलने के लिए रुक गये थे। वे अपने बेढंगे ऊँची एड़ियों वाले जूते पहने चल रहे थे। उनमें शहर के आसपास के देहातों के लाल चेहरोंवाले किसान थे, इंजन ड्राइवर थे और विशाल झीलों से आये नाविक थे।

सैकड़ों पुलिसवाले और पिंकरटन के आदमी सड़क के दोनों ओर खड़े थे। लेकिन जब उन्होंने जुलूस को देखा तो वे चुपचाप खड़े हो गये, उन्होंने बन्दूक़ें रख दीं और निगाहें ज़मीन पर टिका लीं।

क्योंकि मज़दूर शान्त थे। सुनायी पड़ती थीं तो सिर्फ़ उनकी साँसें और चलते हुए क़दमों की आवाज़। एक भी शब्द नहीं सुनायी देता था। कोई बोल नहीं रहा था। न मर्द, न औरतें, बच्चे तक नहीं। सड़क के किनारे खड़े लोग भी ख़ामोश थे।

और अभी भी मज़दूर आते ही जा रहे थे। आल्टगेल्ड एक घण्टे तक खड़ा रहा, पर वे आते ही रहे। कन्धे से कन्धे मिलाये, चेहरे पत्थर जैसे, आँखों से धीरे-धीरे आँसू बह रहे थे जिन्हें कोई पोंछ नहीं रहा था। एक और घण्टा बीता, फिर भी उनका अन्त नहीं था। कितने हज़ार जा चुके थे, कितने हज़ार और आने बाक़ी थे, वह अन्दाज़ नहीं लगा सकता था। पर एक चीज़ वह जानता था, इस देश के इतिहास में ऐसी कोई अन्त्येष्टि पहले कभी नहीं हुई थी, सबसे ज़्यादा प्यारा नेता अब्राहम लिंकन जब मरा था, तब भी नहीं।

(शिकागो पुलिस के मुताबिक शहीद मज़दूर नेताओं के मातमी जुलूस में 6 लाख से ज़्यादा लोग शामिल हुए थे।)

> **"अगर तुम सोचते हो कि हमें फाँसी पर लटकाकर तुम मज़दूर आन्दोलन को...ग़रीबी और बदहाली में कमरतोड़ मेहनत करनेवाले लाखों लोगों के आन्दोलन को कुचल डालोगे, अगर तुम्हारी यही राय है – तो ख़ुशी से हमें फाँसी दे दो। लेकिन याद रखो...आज तुम एक चिंगारी को कुचल रहे हो लेकिन यहाँ-वहाँ, तुम्हारे पीछे, तुम्हारे सामने, हर ओर लपटें भड़क उठेंगी। यह जंगल की आग है। तुम इसे कभी भी बुझा नहीं पाओगे।.. .एक दिन आयेगा जब हमारी ख़ामोशी उन आवाज़ों से ज़्यादा ताक़तवर साबित होगी जिनका तुम आज गला घोंट रहे हो!"**
>
> **– ऑगस्ट स्पाइस**

कैसा है यह लोकतन्त्र और यह संविधान किनकी सेवा करता है?

(पेज 12 से आगे)

अवसर की समता" के जुमले को कितना भद्दा मज़ाक बना दिया है, यह तो राजिन्दर सच्चर आयोग की रिपोर्ट से भी साफ हो चुका है। दलितों और अनुसूचित जातियों की भी ऐसी ही स्थिति है, इसकी साक्षी अनेक गैर-सरकारी रिपोर्टें हैं।

वैसे यह जानना ज़रूरी है कि पश्चिम का जो बुर्जुआ वर्ग बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के बाद सत्तासीन हुआ था, उसने भी सत्तासीन होने के बाद जनता और क्रान्ति के आदर्शों के साथ विश्वासघात किया था और चर्च के साथ "पवित्र गठबन्धन" करके जुझारू भौतिकवादी तर्कणा के झण्डे को किनारे रख दिया था। उत्पादन की प्रगति के लिए उसे उच्च तकनीक और विज्ञान की ज़रूरत थी, पर बुर्जुआ सत्ता को टिकाऊ बनाने के लिए जनता को धार्मिक अन्धविश्वासी व अतार्किक बनाये रखना ज़रूरी था। वैसे भी पूँजीवादी समाज में धर्म का एक नया भौतिक आधार तैयार हो जाता है। जीवन को प्रभावित करने वाली अदृश्य प्राकृतिक शक्तियों के बारे में अज्ञान आदिम धर्म के उद्भव का मूल कारण था। आधुनिक जीवन को संचालित करने वाली 'माल' (कमोडिटी) की अदृश्य सत्ता के बारे में अदृश्य ईश्वरीय सत्ता, भाग्यवाद और कर्मकाण्ड का नया सामाजिक आधार बन जाता है। पूँजीवाद के असाध्य संकटों का हल जब शासक वर्ग किसी किस्म के फासीवाद में ढूँढ़ता है तो अलग-अलग समाजों में उसका चेहरा धार्मिक कट्टरपन्थ या नस्लवाद या जातिवाद का भी हुआ करता है।

प्रबोधनकाल के महान दार्शनिकों ने अन्धविश्वास, अन्याय, विशेषाधिकारों तथा अत्याचार की जगह शश्वत सत्य, शाश्वत न्याय, स्वयं प्रकृति से उपजी समानता तथा मनुष्य के जन्मसिद्ध अधिकारों को केन्द्र में स्थापित करने वाले बुद्धि के जिस राज की बात की थी, वह बुर्जुआ वर्ग के राज का आदर्शीकरण मात्र था। यह इन महान चिन्तकों के चिन्तन की युगीन सीमा थी। जैसा कि एंगेल्स ने लिखा था, बुर्जुआ वर्ग के सत्तासीन होने के बाद "...शाश्वत न्याय ने बुर्जुआ न्याय में मूर्त रूप प्राप्त किया, कि समानता क़ानून के सामने नागरिक समानता बनकर रह गयी, कि बुर्जुआ सम्पत्ति को मनुष्य के सबसे मूलभूत अधिकारों में से एक घोषित कर दिया गया। बुद्धि का राज – रूसो की सामाजिक संविदा – केवल बुर्जुआ जनवादी गणराज्य के रूप में अस्तित्व में आया और केवल उसी रूप में अस्तित्व में आ सकता था।"

भारतीय पूँजीपति वर्ग के हाथों में तो राष्ट्रीय आन्दोलन के समय भी जुझारू भौतिकवाद और क्रान्तिकारी जनवाद का झण्डा नहीं था। यह पुनर्जागरण-प्रबोधन की प्रक्रिया से आगे नहीं बढ़ा था, यह कृषि-दस्तकारी-मैन्युफैक्चरिंग की नैसर्गिक गति से विकसित न होकर औपनिवेशिक सामाजिक संरचना के गर्भ से पैदा हुआ था। गाँधी का क्लासिकी बुर्जुआ मानवतावाद भी जुझारू तर्कणा नहीं बल्कि धार्मिक सुधारवादी था और उनका धार्मिक सुधारवाद तोल्स्तोय से भी काफी पीछे था। दलितों के नेता अम्बेडकर भी जुझारू सामाजिक संघर्षों और रैडिकल भूमि सुधार के विरोधी थे, वे ब्रिटिश संसदीय प्रणाली के संवैधानिक सुधारवाद के भक्त थे और फ्रांसीसी जन क्रान्ति जैसे जिस सामाजिक तूफान ने बुर्जुआ जनवादी मूल्यों (जिनके वे हामी थे) को जन्म दिया, वैसी किसी जन क्रान्ति से भी उनका परहेज़ था। नेहरू का समाजवाद एक लोकलुभावन मध्यवर्गीय यूटोपिया से अधिक कुछ भी नहीं था। याद रखना होगा कि नौसेना विद्रोह का विरोध करने वाले और तेलंगाना किसान संघर्ष के सैनिक दमन की अनुमति देने वाले तथा केरल में पहली वामपन्थी सरकार को असंवैधानिक ढंग से बर्खास्त करने वाले व्यक्ति नेहरू ही थे। कांग्रेस के पटेल, पन्त, टण्डन, मोरारजी आदि नेता तो धुर दक्षिणपन्थी और सामाजिक मामलों में भी पुरातनपन्थी रूढ़िवादी थे। सत्ता मिलने की सम्भावना निकट आने के साथ ही कांग्रेस के समझौतों की शुरुआत हो चुकी थी। 1935 से लेकर 1946 में संविधान सभा के गठन के दौर तक की इस ऐतिहासिक प्रक्रिया की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। ऐसे में संविधान की प्रस्तावना में धर्मनिरपेक्षता, न्याय, स्वतन्त्रता, समता, बन्धुता आदि प्रबोधनकालीन आदर्शों का लेबल बरकरार रखते हुए उनके निहितार्थों को बदलने की जो मक्कारी की गयी है और उदात्त आदर्शों को खोखला नारा बनाकर जो लफ़्फ़ाज़ी की गयी है, वह ज़रा भी आश्चर्य की बात नहीं है।

(अगले अंक में: संविधान की प्रस्तावना की जारी समालोचना के अन्तर्गत सम्प्रभुता, समाजवाद और लोकतन्त्रात्मक गणराज्य की घोषणाओं पर चर्चा)

125वें मई दिवस का सन्देश

स्मृति से प्रेरणा लो!
संकल्प को फौलाद बनाओ!
संघर्ष को सही दिशा दो!

मज़दूर आन्दोलन को दलाल ट्रेड यूनियनबाज़ों और चुनावी धन्धेबाज़ों से मुक्त करो!

जंग जीतने के लिए सबसे पहले भितरघातियों से छुटकारा पाओ!

मज़दूर आन्दोलन का क्रान्तिकारी पुनर्निर्माण करने के लिए आगे बढ़ो!

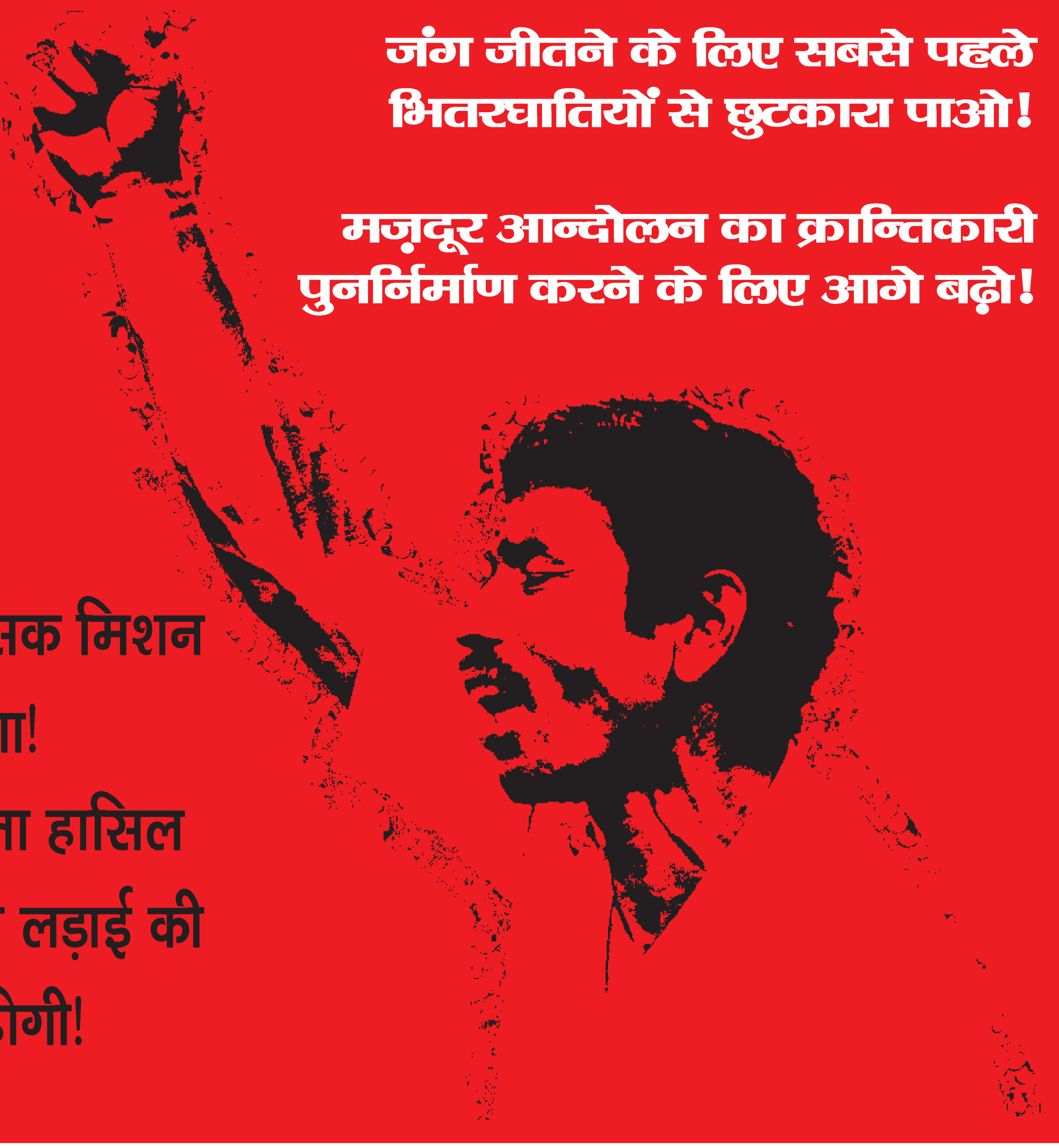

मज़दूर वर्ग को
अपना ऐतिहासिक मिशन
याद करना होगा!
राजनीतिक सत्ता हासिल
करने की लम्बी लड़ाई की
तैयारी करनी होगी!

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, निशातगंज, लखनऊ-226006 से प्रकाशित एवं उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजय गांधीपुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक : सुखविन्दर ● सम्पादकीय पता : 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006